* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, अक्टूबर १९९० ई॰

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें २.०० रु॰ विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ४४.००रु॰ विदेशमें ६ पौंड अथवा १० डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
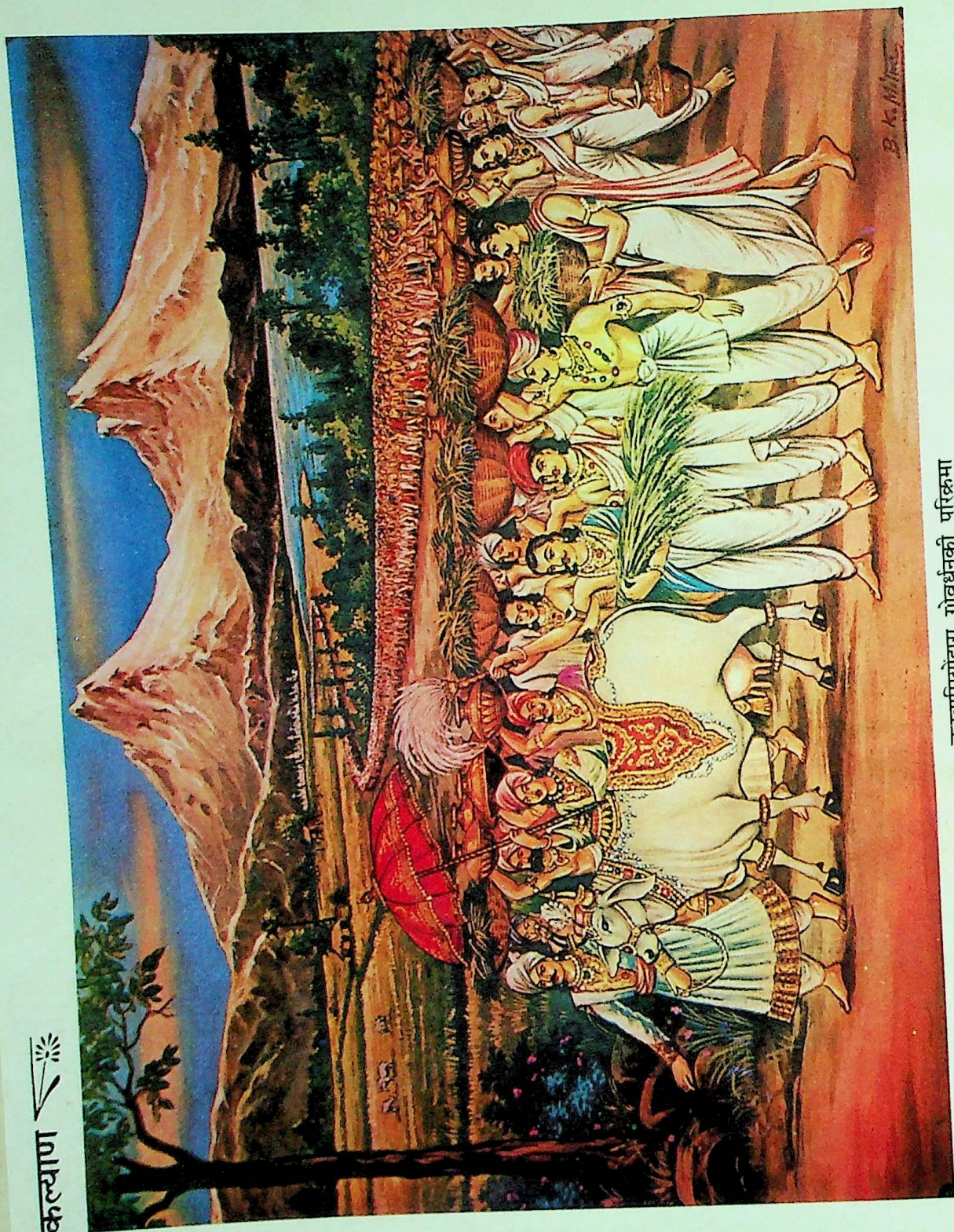
व्रजवासियोंद्वारा गोवर्धनकी परिक्रमा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

वर्ष ६४ } गोरखपुर, सौर आश्विन, वि॰सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, अक्टूबर १९९० ई॰ { संख्या ७ | पूर्ण संख्या ७६४

व्रजवासियोंद्वारा गिरिराज गोवर्धनकी प्रदक्षिणा

कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता। प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ॥
तथा च व्यदधुः सर्वं यथाऽऽह मधुसूदनः। वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ॥
उपहृत्य बलीन् सर्वानादृता यवसं गवाम्। गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥

(श्रीमद्भा॰ १०।२४।३१-३३)

(श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्!) कालात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छा थी कि इन्द्रका गर्व नष्ट कर दिया जाय। नन्दबाबा आदि गोपोंने उनकी बात सुनकर बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर ली। भगवान् श्रीमधुसूदनने जिस प्रकारका यज्ञ करनेको कहा था, वैसा ही यज्ञ उन्होंने प्रारम्भ किया। पहले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर उसी सामग्रीसे गिरिराज और ब्राह्मणोंको सादर भेंटें दीं तथा गौओंको हरी-हरी घास खिलायी। इसके बाद नन्दबाबा आदि गोपोंने गौओंको आगे करके गिरिराजकी प्रदक्षिणा की।
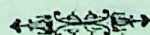
कल्याण

याद रखो, जबतक तुम भजनके लिये किसी संसारी स्थितिकी प्रतीक्षा करते हो, तबतक तुम वास्तवमें भजन करना चाहते ही नहीं। यदि भजन करना चाहते तो भजनसे बढ़कर ऐसी कौन-सी स्थिति है, जिसके लिये तुम भजनको रोककर पहले उसे पाना चाहते। संसारके धन-जन, मान-सम्मान, पद-गौरव सभी विनाशी हैं। ये किसीके सदा रहते नहीं। और जिन्हें ये सब प्राप्त हैं, वे क्या सुखी हैं ? उन्हें क्या शान्ति मिल गयी है ? उनके जीवनका उद्देश्य क्या सफल हो रहा है ? वे क्या उन्हें प्राप्त करके भजनमें लग गये हैं ? बल्कि इसके विपरीत अनुभव तो यह कहता है कि ज्यों-ज्यों सांसारिक संग्रह बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों क्लेश, कामना, द्वेष, अशान्ति, अज्ञान, असावधानी और विषयासक्ति बढ़ती है। और विषयासक्त पुरुष कभी सुख-शान्तिके भण्डार परमात्माके मार्गपर नहीं चलना चाहता।

इस विषयासक्तिका सर्वथा नाश तो तब होगा, जब तुम अखिल ऐश्वर्य, सौन्दर्य और माधुर्यके समुद्र भगवान्‌को जानकर उनमें आसक्त हो जाओगे। तबतक शास्त्र और संतोंकी वाणीपर श्रद्धा करके, विषयोंकी नश्वरता और क्षणभङ्गुरता प्रत्यक्ष देखकर विषयी और विषयप्राप्त पुरुषोंकी मानसिक दुर्दशापर विचार करके चित्तको विषयोंसे हटाते रहो और सर्वसुखस्वरूप श्रीभगवान्‌में लगाते रहो। भगवान्‌के रहस्य और प्रभावकी बातोंको, उनकी लीलाओंको, उनके गुणोंको श्रद्धापूर्वक सत्पुरुषोंसे सुनो। उनके नामका जप करो और यह चेष्टा सच्चे मनसे करते रहो कि जिसमें एक क्षणभरके लिये भी मनसे उनका विस्मरण न हो। प्रत्येक क्षण उनकी मधुर याद बनी ही रहे। जब भूलो, तब पश्चात्ताप करो। याद आनेपर फिर न भूलनेकी कोशिश करो। भगवान्‌के स्मरणको ही परम धन और परम लाभ समझो। सच्ची बात भी यही है—भगवान्‌का स्मरण ही जीवनका एकमात्र परम धन है।

पहलेके दोषों और पापोंके लिये चिन्ता न करो, उससे कोई लाभ नहीं, जो होना था सो हो चुका। न चुपचाप बैठे भविष्यके लिये ही शोक करो। जहाँतक बने, वर्तमानको सुधारो। फिर भूत और भविष्य दोनों ही अपने-आप सुधर जायँगे। वर्तमानमें प्रयत्न करके भगवत्कृपासे यदि तुम भगवान्‌को पा गये तो पूर्वके समस्त कर्म जल जायँगे और भविष्य तो परम कल्याणमय हो ही गया। वास्तवमें तब तुम भूत, भविष्यत्, वर्तमान इस कालभेदको लाँघकर इससे आगे उस स्थितिमें पहुँच जाओगे, जहाँ कालभेद और देशभेद नहीं है। जहाँ केवल आनन्द-ही-आनन्द और ज्ञान-ही-ज्ञान है।

यह होगा, वर्तमानपर ध्यान रखनेसे ही। तुम्हारे हाथमें वर्तमान ही है। इसका एक-एक क्षण भगवान्‌में लगाओ। बुद्धिको, मनको, इन्द्रियोंको सब ओरसे बटोरकर सर्वतोभावसे भगवान्‌की सेवामें लगा दो। याद रखो—जीवनका काल बहुत थोड़ा है, यदि यह बीत गया तो फिर पछतानेसे कुछ भी नहीं होगा। क्योंकि भगवान्‌की प्राप्तिका अधिकार इस मानव-जीवनमें ही है। यह यदि नष्ट हो गया तो एक बहुत अच्छा सुअवसर तुमने हाथसे खो दिया। अतएव न भूतकालके कार्योंके लिये पश्चात्ताप या चिन्ता करो, न भविष्यकी किसी स्थितिकी बाट देखो, बल्कि सब ओरसे चित्त हटाकर किसी ओर भी न ताककर जीवनके इस परम उद्देश्यकी सिद्धिके साधनमें वैसे ही लग जाओ, जैसे अत्यन्त भूखा आदमी सामने भोजन पाकर सबसे पहले उसे खानेमें लग जाता है।

सब इन्द्रियोंको भगवत्सेवामें लगा दो। धन-जन, पूजा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, आराम-भोग आदि समस्त कामनाओंको चित्तसे निकालकर चित्तको निर्मल करके उसमेंसे हिंसा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध, ईर्षा, अभिमान आदि दोषोंको निकालकर तत्परताके साथ सारी इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके एकमात्र स्वामी हृषीकेश भगवान्‌की सेवामें लगा दो।

इन्द्रियोंको तो भगवान्‌से प्रतिकूल कार्योंसे हटाये ही रखो, मनमें भी कोई प्रतिकूल भावना न आने दो। तुम्हारे सब कार्य भगवान्‌के अनुकूल ही हों और हों केवल उनकी सेवा-पूजाके लिये ही। —'**शिव**'
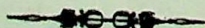
गो-पूजन

जो मनुष्य प्रतिदिन जौ आदिके द्वारा गौकी पूजा करता है, उसके पितृगण और देवता सदा तृप्त होते हैं। जो सदाचारी पुरुष नियमपूर्वक प्रतिदिन गायोंको खिलाता है, वह सच्चे धर्मके बलसे सारे मनोरथोंको प्राप्त करता है। जो व्यक्ति गौओंके शरीरसे गंदगी, मच्छर आदिको हटा देता है, उसके पूर्वज लोग कृतार्थ होते हैं। यहाँतक कि 'यह भाग्यशालिनी संतान हमारा उद्धार कर देगी' यह सोचकर वे उस अत्यन्त उत्सवमय कार्यके लिये आनन्दसे नाचने लगते हैं। (पद्म०, पाताल०, अ० १८)

जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर हाथमें जलका पात्र लेकर गौओंमें जाता है, उनके सींगोंको सींचता है और फिर उस जलको अपने मस्तकपर धारण करके उस दिन उपवास करता है, उसको बहुत पुण्य होता है। तीनों लोकोंमें सिद्ध, चारण और महर्षियोंके द्वारा सेवित जितने तीर्थ हैं, गौओंके सींग-जलका अभिषेक उन सब तीर्थोंमें स्नान करनेके समान है। (पद्मपु०, सृष्टि० अ० ४८)

गो-पूजाका विधान

सबसे पहले—

'अद्य पूर्वोच्चरितदेशकालविशेषे तथानेकगुणविशेषण-विशिष्टायां शुभपुण्यतिथौ मम आत्मनः श्रुतिस्मृतिपुराणो-क्तफलप्राप्त्यर्थं यथाज्ञानं यथामिलितोपचारैः गोः पूजनमहं करिष्ये।'

'आज पूर्वमें उच्चरित देश-काल-विशेषमें तथा अनेक गुणोंसे विशिष्ट इस शुभ एवं पवित्र तिथिमें स्वयंको श्रुति, स्मृति एवं पुराणोंमें वर्णित फलकी प्राप्ति करानेके लिये जैसा मुझे ज्ञान है, उसके अनुसार तथा जो कुछ पूजाकी सामग्री मुझे प्राप्त हुई है, उसीसे मैं गो-माताका पूजन करूँगा।' यह संकल्प पढ़कर कलश आदि पूजाकी सामग्रीका जलसे प्रोक्षण करे। इसके अनन्तर निम्नलिखित मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए उन्हींके भावानुसार गो-माताका ध्यान करे—

ध्यान-मन्त्र

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥
गवामङ्गेषु तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश।
यस्मात्तस्माच्छिवं मे स्यादिह लोके परत्र च॥

'श्रीमती गौओंको नमस्कार है। कामधेनुकी संतानोंको नमस्कार है। ब्रह्माजीकी पुत्रियोंको नमस्कार है। पावन करनेवाली गौओंको नमस्कार है। गौओंके अङ्गोंमें चौदहों भुवन स्थित हैं, अतः मेरा इस लोकमें एवं परलोकमें भी कल्याण हो।' फिर नीचे लिखे मन्त्रोंसे आवाहनपूर्वक पूजन करे—

आवाहन-मन्त्र

आगच्छ देवि कल्याणि शुभां पूजां गृहाण मे।
वत्सेन सहितां त्वाहं देवीमावाहयाम्यहम्॥

'हे कल्याणमयी देवि! तुम आकर मेरी शुभ पूजाको ग्रहण करो। बछड़ेके सहित देवीस्वरूपा तुम्हारा मैं आवाहन करता हूँ।'

आसन-मन्त्र

नानारत्नसमायुक्तं कार्तस्वरविभूषितम्।
आसनं ते मया दत्तं गृहाण जगदम्बिके॥
श्रीरुद्ररूपिण्यै गवे नम इदमासनम्।

'हे जगज्जननी! नाना रत्नोंसे जटित एवं स्वर्णसे विभूषित यह आसन मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ, इसे स्वीकार करो। श्रीरुद्ररूपिणी गौको नमस्कारपूर्वक यह आसन समर्पित है।'

पाद्य-मन्त्र

सौरभेयि सर्वहिते पवित्रे पापनाशिनि।
गृहाणैतन्मया दत्तं पाद्यं त्रैलोक्यवन्दिते॥

'हे सर्वहितकारिणी पापनाशिनी पावनकारिणी त्रैलोक्य-वन्दिता कामधेनुपुत्रि! मेरे द्वारा अर्पित इस पाद्यको ग्रहण करो।'

अर्घ्य-मन्त्र

सर्वदेवमये देवि सर्वतीर्थमये शुभे।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सौरभेयि नमोऽस्तु ते॥

'हे देवि! तुम सर्वदेवमयी हो—समस्त देवताओंका तुम्हारे शरीरमें निवास है। हे शुभे! तुम सर्वतीर्थमयी हो—सारे तीर्थ तुम्हारे अंदर निवास करते हैं। हे सुरभिपुत्री! मेरे दिये हुए इस अर्घ्यको स्वीकार करो। तुम्हें नमस्कार है।'

आचमन-मन्त्र

देहस्थितासि रुद्राणि शङ्करस्य सदा प्रिया।

धेनुरूपेण सा देवी मम पापं व्यपोहतु ॥

'हे रुद्राणि ! तुम भगवान् शङ्करको सदा प्यारी हो तथा उनकी आधी देहमें स्थित रहती हो। वही देवी गौके रूपमें मेरे पापका नाश करे।'

स्नान-मन्त्र

या लक्ष्मीः सर्वलोकेषु या च देवेष्ववस्थिता।
धेनुरूपेण सा देवी मम पापं व्यपोहतु ॥

'जो लक्ष्मीदेवी समस्त लोकोंमें व्याप्त हैं और जिनका देवताओंमें निवास है, वही देवी गौके रूपमें मेरे पापको नष्ट करें।'

इसके अनन्तर सम्भव होनेपर पञ्चामृत आदिसे स्नान कराकर '**आ गावो अग्मन्॰**' इत्यादि सूक्तसे अथवा श्रीसूक्त या पुरुषसूक्तसे महाभिषेक करे।

वस्त्र-मन्त्र

आच्छादनं गवे दद्यां सम्यक् शुद्धं सुशोभनम्।
सुरभिर्वस्त्रदानेन प्रीयतां परमेश्वरी ॥

'मैं गो-माताको अत्यन्त शुद्ध एवं सुन्दर वस्त्र अर्पित करता हूँ। इस वस्त्र-दानसे परमेश्वरी सुरभि देवी प्रसन्न हों।'

चन्दन-मन्त्र

सर्वदेवमये देवि चन्दनं चन्द्रसंनिभम्।
कस्तूरीकुङ्कुमाद्यञ्च सुगन्धिं प्रतिगृह्यताम् ॥

'हे सर्वदेवमयी देवि ! कस्तूरी और केशर मिला हुआ और चन्द्रमाके समान सफेद रंगका यह सुगन्धित चन्दन स्वीकार करो।'

इसके अनन्तर गो-माताको अक्षत (अखण्डित चावल) आभूषण, रोली आदि सौभाग्यसूचक द्रव्य, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ एवं सुगन्धित पुष्पोंसहित पुष्पमाला अर्पित करे।

न्यास

निम्नलिखित मन्त्रोंसे गो-माताके विभिन्न अङ्गोंमें विभिन्न देवताओंका न्यास करे।

शृङ्गमूलयोर्ब्रह्मविष्णू न्यसामि—दोनों सींगोंकी जड़में क्रमशः ब्रह्माजी एवं भगवान् विष्णुको स्थापित करता हूँ।

शृङ्गाग्रयोः सर्वतीर्थाणि॰—दोनों सींगोंके अग्रभागमें समस्त तीर्थोंको…..।

ललाटे महादेवं॰—ललाटमें भगवान् शङ्करको…..।

ललाटाग्रे महादेवीं॰—ललाटके अग्रभागमें महादेवी पार्वतीको…..।

नासावंशे षण्मुखं॰—नासिकाकी डाँडीमें श्रीस्वामि-कार्तिकको…..।

कर्णयोरश्विनौ॰—दोनों कानोंमें अश्विनीकुमारोंको…..।

चक्षुषोः शशिभास्करौ॰—दोनों नेत्रोंमें क्रमशः चन्द्र और सूर्यको…..।

दन्तेषु वायुं॰—दाँतोंमें वायुदेवताको….।

जिह्वायां वरुणं॰—जीभमें वरुणदेवताको…..।

हुंकारे सरस्वतीं॰—हुंकारमें देवी सरस्वतीको….।

गण्डयोर्यमधर्मौ॰—दोनों कनपटियोंमें क्रमशः यमराज एवं धर्मको….।

ओष्ठयोः सन्ध्याद्वयं॰—दोनों ओठोंमें क्रमशः प्रातः-संध्या एवं सायंसन्ध्याको….।

ग्रीवायामिन्द्रं॰—गर्दनमें देवराज इन्द्रको…..।

कुक्षिदेशे रक्षांसि॰—पेटके ऊपरी भागमें राक्षसोंको…।

उरसि साध्यान्॰—छातीमें साध्यनामक देवताओंको…।

चतुष्पादेषु धर्मं॰—चारों चरणोंमें धर्मदेवताको….।

खुरमध्ये गन्धर्वान्॰—खुरोंके मध्यभागमें गन्धर्वोंको…।

खुराग्रे पन्नगान्॰—खुरोंके अग्रभागमें नागोंको….।

खुरपार्श्वेष्वप्सरसः॰—खुरोंके पार्श्वभागमें अप्सराओंको…।

पृष्ठे एकादशरुद्रान्॰—पीठमें ग्यारह रुद्रोंको….।

सर्वसन्धिषु वसून्॰—समस्त जोड़ोंमें वसुनामक देवताओंको….।

श्रोणीतटे पितॄन्॰—पीछेके भागमें पितरोंको….।

लाङ्गूले सोमं॰—पूँछमें चन्द्रदेवताको….।

बालेषु आदित्यरश्मीन्॰—पूँछके बालोंमें सूर्यकी किरणोंको…।

गोमूत्रे गङ्गां॰—गोमूत्रमें भगवती गङ्गाको…..।

क्षीरे सरस्वतीं॰—दूधमें सरस्वती देवीको….।

दध्नि नर्मदां॰—दहीमें नर्मदा नदीको…..।

सर्पिषि हुताशनं॰—घीमें अग्निदेवको…..।

रोमसु त्रयस्त्रिंशतकोटिदेवान्॰—रोमोंमें तैंतीस करोड़ देवताओंको…..।

उदरे पृथिवीं॰—पेटके अंदर पृथिवीदेवीको…..।

पयोधरेषु सागरान्°—चारों थनोंमें क्रमशः चारों समुद्रोंको स्थापित करता हूँ।

धूप-मन्त्र

देवद्रुमरसोद्भूतो गोघृतेन समन्वितः।
प्रयच्छामि महाभागे धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

'हे महाभाग्यवती गो-माता! कल्पवृक्षकी गोदसे बनी हुई तथा गौके घीसे मिश्रित यह धूप मैं तुम्हें अर्पण करता हूँ, इसे स्वीकार करो।'

दीप-मन्त्र

आनन्दकृत् सर्वलोके देवानाञ्च सदा प्रियः।
गौस्त्वमादिजगन्नाथे दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

'जगत्‌की आदि स्वामिनी हे गोमाता! यह दीपक समस्त लोकोंको आनन्द देनेवाला और देवताओंको सदा ही प्यारा है, इसे स्वीकार करो।'

गोग्रास-नैवेद्य-मन्त्र

सुरभिस्त्वं जगन्मातर्देवि विष्णुपदे स्थिता।
सर्वदेवमये ग्रासं मया दत्तमिमं ग्रस॥

'हे जगदम्बे! तुम्हीं स्वर्गमें रहनेवाली कामधेनु हो। हे सर्वदेवमयी देवि! मेरे द्वारा अर्पित इस ग्रासको मुँहमें ले लो।' इसके अनन्तर हाथोंमें मलनेके लिये चन्दन, मुखशुद्धिके लिये पान तथा फल एवं दक्षिणा अर्पण करे और कपूरकी आरती करके निम्नलिखित मन्त्रसे नमस्कार करे—

नमस्कार-मन्त्र

पञ्च गावः समुत्पन्ना मथ्यमाने महोदधौ।
तासां मध्ये तु या नन्दा तस्यै देव्यै नमो नमः॥
सर्वकामदुघे देवि सर्वतीर्थाभिषेचिनि।
पावनि सुरभिश्रेष्ठे देवि तुभ्यं नमो नमः॥

'क्षीरसमुद्रके मथे जानेपर उसमेंसे पाँच गौएँ प्रकट हुईं। उनमेंसे जो नन्दा नामकी श्रेष्ठ गौ है, उस देवीको बारम्बार नमस्कार है। हे सुरभि देवि! तुम समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली तथा समस्त तीर्थोंमें स्नान करनेवाली हो। अतः हे पवित्र करनेवाली देवि! तुम्हें बारम्बार नमस्कार है।'

प्रदक्षिणा-महिमा

गवां दृष्ट्वा नमस्कृत्य कुर्याच्चैव प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥
मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः।
वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः॥

'गो-माताका दर्शन एवं उन्हें नमस्कार करके उनकी परिक्रमा करे। ऐसा करनेसे सातों द्वीपोंसहित भूमण्डलकी प्रदक्षिणा हो जाती है। गौएँ समस्त प्राणियोंकी माताएँ एवं सारे सुखको देनेवाली हैं। वृद्धिकी आकाङ्क्षा करनेवाले मनुष्यको नित्य गौओंकी प्रदक्षिणा करनी चाहिये।'

पुष्पाञ्जलि-मन्त्र

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥

फिर निम्नलिखित मन्त्रोंसे गो-माताकी प्रार्थना करे—

गावो ममाग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे हृदये नित्यं गवां मध्ये वसाम्यहम्॥
सर्वदेवमये देवि सर्वदेवैरलंकृते।
मातर्ममाभिलषितं सफलं कुरु नन्दिनि॥

'गौएँ मेरे आगे रहें, गौएँ मेरे पीछे भी रहें। गौएँ मेरे हृदयमें निवास करें और मैं सदा गौओंके बीचमें निवास करूँ। हे देवि! तुम सर्वदेवमयी हो, समस्त देवताओंद्वारा पूजित एवं अलंकृत हो। हे मातः! हे नन्दिनि! मेरी अभिलाषाको पूर्ण करो।' पुष्पाञ्जलिके बाद ताँबेके अर्घ्यपात्रमें चन्दन, पुष्प एवं अक्षतसे युक्त जल लेकर गौ माताके चरणतलमें निम्नलिखित मन्त्रसे अर्घ्य दे—

अर्घ्य-मन्त्र

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥
क्षीरोदार्णवसम्भूते सुरासुरनमस्कृते।
सर्वदेवमये मातर्गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥

'हे गोमाता! तुम जंगलोंमें घूमती हुई सदा घास चरती रहो और शुद्ध जल पीती रहो। सुन्दर घास चरनेसे तुम ऐश्वर्यवती बनो और हम भी तुम्हारी कृपासे ऐश्वर्यवान् हों। हे मातः! तुम क्षीरसमुद्रसे प्रकट हुई हो, समस्त देवता और दानव तुम्हारी वन्दना करते हैं। हे सर्वदेवमयि! मेरे अर्घ्यको ग्रहण करो, तुम्हें नमस्कार है।' अर्घ्य देनेके बाद उस जलको अक्षतोंसहित अपने मस्तकपर छोड़कर उड़दकी दालके बड़ोंका गो-ग्रास अर्पण करे।

शोकनाशके उपाय

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्क पृ०-सं० ५७३ से आगे]

अनिष्टकी प्राप्तिमें भक्तको शोक नहीं करना चाहिये, यह बात आगे समझायी जाती है। जो कुछ भी अनिष्ट हमें प्राप्त होता है, प्रभुकी आज्ञासे ही प्राप्त होता है। कोई वस्तु अथवा घटना अपने कितनी भी प्रतिकूल क्यों न हो, वह मेरे स्वामीके तो अनुकूल ही है—ऐसा समझकर भक्तको सदा प्रसन्न रहना चाहिये, मेरे स्वामीसे भूल तो कभी होती ही नहीं, वे जो कुछ करते हैं, समझ-बूझकर ही करते हैं। ऐसी स्थितिमें अनिष्टरूपमें जो कुछ मुझे प्राप्त होता है, वह तो मेरे प्रभुका भेजा हुआ पुरस्कार है, ऐसा समझकर प्रह्लादकी भाँति उसे प्रतिक्षण मुग्ध होते रहना चाहिये। इसके विपरीत जो किसी अनिष्ट प्रसङ्गपर क्षुब्ध होता है, वह भगवान्‌का भक्त नहीं कहा जा सकता। भक्तको तो ऐसा मानना चाहिये कि जो कुछ प्रभु करते हैं, हमारे हितके लिये ही करते हैं, हम अज्ञतावश उसे समझ नहीं पाते। जिसको हम अनिष्ट समझते हैं, थोड़ा भीतर प्रवेश करनेपर हमें मालूम होगा कि वह तो वास्तवमें हमारे लिये परमानन्दका विषय है। अनिष्ट कहलानेवाले प्रसङ्गोंसे, थोड़ा-सा भी विचार करनेपर हमें निम्नलिखित लाभ प्रत्यक्ष दिखायी देंगे। इनके अतिरिक्त न मालूम कितने लाभ भगवान्‌की उन मनको प्रतिकूल लगनेवाली क्रियाओंसे हमें होते हैं—उनका हम अंदाजा नहीं लगा सकते।

(१) पहली बात तो यह है कि हमें अपने मनके प्रतिकूल जिस दुःखदायक पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह हमारे ही किसी पूर्वकृत अपराधका फल है; क्योंकि भगवान्‌के राज्यमें बिना अपराध किसीको दण्ड नहीं मिल सकता। इस प्रकार हमारे अपराधोंका दण्ड देकर भगवान् हमें पापमुक्त करते हैं, शुद्ध बनाते हैं।

(२) इस प्रकारकी शिक्षा देकर भगवान् हमें भविष्यमें पाप करनेसे रोकते हैं।

(३) इस प्रकार कष्ट देकर भगवान् हमारे आत्माको बलिष्ठ बनाते हैं। आगमें तपानेसे जैसे सोना निखर उठता है, उसी प्रकार कष्ट सहनेसे आत्मा शुद्ध और बलिष्ठ होता है—यह सबका अनुभव है।

(४) कभी-कभी हमलोग अपनी भक्तिका झूठा अभिमान करने लगते हैं और वास्तवमें भगवान्‌में जैसा विश्वास होना चाहिये, वैसा न होनेपर भी अपनेको विश्वासी मान बैठते हैं। इसलिये इस प्रकारके कष्ट देकर भगवान् हमारी परीक्षा लेते हैं और हमें अपनी असली स्थितिका परिचय कराते हैं तथा हमारा अभिमान भंग करते हैं।

(५) हमारे अपराधोंका दण्ड देकर भगवान् अपनी न्यायशीलता सिद्ध करते हैं और हमें चेतावनी देते हैं कि मेरे भजनके सहारे पापमें कभी प्रवृत्त न होना, नहीं तो इस प्रकारका दण्ड फिर तैयार है, मैं भजनके बलपर पाप करनेवालोंकी रू-रियायत नहीं करता।

(६) अन्तिम और सबसे बड़ा लाभ यह है कि कष्टमें हमें भगवान् याद आते हैं। हमलोग संसारके तुच्छ, नाशवान् भोगोंके पीछे भगवान्‌को भूले रहते हैं। इसलिये बीच-बीचमें कष्ट देकर भगवान् हमें चेतावनी देते रहते हैं कि मुझे भूलो मत, नहीं तो बड़ी दुर्दशा होगी, यह मनुष्य-शरीर भोगोंके लिये नहीं मिला है, मुझे प्राप्त करनेके लिये ही मिला है—इसलिये इसे व्यर्थ कामोंमें न गँवाओ।

इसके अतिरिक्त हमारे मनको प्रतिकूल लगनेवाली भगवान्‌की क्रियाओंमें हमारा कितना हित भरा रहता है, इसे हमलोग समझ नहीं सकते। अतः प्रभु हमारे लिये जो कुछ करते हैं, उसमें उनकी अपार दया एवं अपना परम हित मानकर हमें खूब प्रसन्न रहना चाहिये।

विवेक एवं विचारकी दृष्टिसे भी हमें इष्ट वस्तुके वियोगमें एवं अनिष्टकी प्राप्तिमें शोक नहीं करना चाहिये। इष्टका वियोग एवं अनिष्टका संयोग दोनों ही क्षणिक हैं। जिस वस्तुके साथ संयोग होता है, उसका वियोग भी अवश्यम्भावी है। संसारके संयोग और वियोग वैसे ही हैं, जैसे किसी मुसाफिरखाने अथवा पान्थशालामें यात्रियोंका एकत्रित होना तथा अलग-अलग हो जाना अथवा रेलगाड़ीमें मुसाफिरोंका चढ़ना-उतरना। जैसे किसी मुसाफिरखाने अथवा सरायमें रात्रिमें विश्राम करनेके लिये यात्री लोग ठहरते हैं और सबेरा होते ही

अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानको चल देते हैं, उसी प्रकार एक परिवारमें कई प्राणी एकत्र होते हैं और समय पूरा होते ही बिछुड़ जाते हैं। रेलगाड़ीमें जैसे भिन्न-भिन्न स्थानोंको जानेवाले मुसाफिर चढ़ते-उतरते रहते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न जीव इस संसारमें जन्मते-मरते रहते हैं। रेलगाड़ीमें हम जिस डिब्बेमें बैठे हुए होते हैं, उसमें यदि कोई दूसरा मुसाफिर सवार होता है, तो उसके आनेपर हम खुशी नहीं मनाते और उसके उतर जानेपर हम दुःखी नहीं होते। इसी प्रकार अपने परिवारवालोंके जन्मने-मरनेपर हमें हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये। बल्कि रेलगाड़ीमें तो कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है। हमारे डिब्बेमें दूसरेके घुस आनेपर हम अप्रसन्न होते हैं और उतर जानेपर प्रसन्न होते हैं, किंतु ऐसा भी होना ठीक नहीं है। रेलगाड़ीमें हमारे पास जिस स्टेशनका टिकट होता है, उसके आगे हम नहीं जा सकते, उसी प्रकार जितनी आयु लेकर मनुष्य इस संसारमें आता है, उससे अधिक वह नहीं जी सकता। इसलिये विवेक एवं विचारकी दृष्टिसे भी हमें इष्ट-विनाश एवं अनिष्टसंयोगपर दुःखी नहीं होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इष्टविनाश एवं अनिष्टसंयोगपर शोक अथवा चिन्ता करना, रोना-चिल्लाना, लौकिक दृष्टिसे भी महान् मूर्खता है। इससे प्रत्यक्षमें हमारी हानि होती है। लोगोंकी दृष्टिमें हम गिर जाते हैं, दुर्बल-हृदय समझे जाते हैं, जगत्में हमारी मूर्खता ही प्रकट होती है, स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, शरीर चिन्तासे जर्जर हो जाता है, ओज एवं बलकी हानि होती है और हम दुःखी होकर रोते-रोते मरते हैं। इसलिये विवेकी पुरुषकी तो बात ही क्या है, जो थोड़ा भी समझदार है, उसे भी शोक नहीं करना चाहिये, बल्कि ईश्वरके प्रत्येक विधानमें उसकी दया मानकर प्रसन्न रहना चाहिये। यदि दया समझमें न आवे तो कम-से-कम होनीको प्रबल समझकर ही शोक नहीं करना चाहिये। चाहे हम ज्ञान, भक्ति—इनमेंसे किसी भी सिद्धान्तको न मानें, बल्कि ईश्वरमें भी हमारा विश्वास न हो तो भी जो कुछ होनेको है वह तो होकर ही रहेगा, हमारे टाले टलेगा नहीं—यही समझकर हमें धैर्य धारण करना चाहिये। जो निरुपाय बात है, उसके लिये चिन्ता करनेसे क्या लाभ है ? फिर जो बात हो चुकी, उसके लिये शोक करना तो और भी बेकार है। हमारे शोक करनेसे वह अन्यथा तो हो नहीं सकती, फिर उसके लिये शोक करना अपनी ही हानि करना है।

जो लोग शोकसे अभिभूत होकर अथवा आवेशमें आकर आत्महत्या कर बैठते हैं, वे तो अत्यन्त ही मूर्ख हैं। वे लोग अज्ञानवश वर्तमान कष्टसे मुक्त होनेके लिये शरीरका नाश कर देते हैं, परंतु इससे सुख पाना तो दूर रहा, उल्टा उन्हें अधिक कष्ट भोगना पड़ता है। ऐसा करनेसे प्रथम तो उन्हें अमूल्य मानव-जीवनसे हाथ धोना पड़ता है, जिसके द्वारा मनुष्य नित्यसुखरूप परमात्माको पाकर कृतार्थ हो जाता है और जन्म-मरणरूप बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, जिसे शास्त्रोंने अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है और जिसे यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें भटकता-भटकता कभी परमात्माकी अहैतुकी कृपासे ही प्राप्त होता है*। इसके अतिरिक्त प्राणोंके वियोगके समय भी उसे इतना कष्ट होता है जिसकी सीमा नहीं है। पहले उसे उस कष्टका अनुमान नहीं होता, परंतु पीछे जब उसके प्राण निकलते हैं, उस समय उसे इतना कष्ट होता है, जिसके समान और कोई दुःख नहीं है। साधारण मृत्युके समय भी लोग कहते हैं, हजारों बिच्छुओंके डंक मारने-जैसा कष्ट होता है, फिर जो स्वयं जान-बूझकर मरता है, उसके कष्टका तो कहना ही क्या है।

तीसरी बात यह है कि मरनेके बाद उसे घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है। ईशोपनिषद्में कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

अर्थात् वे असुरसम्बन्धी लोक आत्माके अदर्शनरूप

---

* मानव-देहके लिये गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें लिखा है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥

अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं, वे मरनेके अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान, भक्ति अथवा विवेक-विचार—किसी भी दृष्टिसे शोक करना उचित नहीं है। वास्तवमें इष्टवियोग अथवा अनिष्टसंयोग दुःखदायक नहीं होता, अज्ञानमूलक ममता ही दुःखका हेतु है। मान लीजिये किसी सड़कके दोनों ओर दो मकान हैं। उनमेंसे एकमें हमारी ममता है और दूसरेमें पारक्यबुद्धि है। जिसमें ममता नहीं है, उसपर यदि कोई आपत्ति आती है—कोई उसे तोड़ता है अथवा उसमें आग लग जाती है तो हमें दुःख नहीं होता, किंतु जिसमें हमारी ममता है, उसकी यदि कोई एक ईंट भी निकालता है तो हमें ऐसा दुःख होता है मानो हमारे शरीरको ही कोई नोचता हो। कुछ दिन बाद उसी मकानको हम पूरा मूल्य लेकर बेच डालते हैं। उसके बाद यदि कोई उसको भी तोड़ता है अथवा उसमें आग लगाता है, तो हम खड़े-खड़े हँसते हैं, हमें दुःख नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि मकानका टूटना या नष्ट होना दुःखदायी नहीं है, उसमें जो हमारी ममता है, वही दुःखका हेतु है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव संसारमें, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी जमीन है, यह मेरी सम्पत्ति है—इस प्रकार ममता कर लेता है और फिर उनके विनाशसे दुःखी होता है। अतः ममताका नाश ही दुःखनाशका उपाय है और ममताके नाशके लिये दो ही उपाय हैं—(१) ज्ञानी महात्माओंके सङ्गसे ज्ञान प्राप्त कर ममताके मूल अज्ञानका नाश करना अथवा (२) ईश्वरकी भक्ति करके उनकी कृपासे अज्ञानका नाश करना। गीतामें भी दुःखनाश और परम शान्ति प्राप्त करनेके यही दो उपाय बताये गये हैं—

(१) श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त करके वह बिना विलम्बके तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

(२) तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

(१८। ६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरण जा। उस परमात्माकी ही कृपासे तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त हो जायगा।'

यह ईश्वरकी शरणागति ही दुःखसे सदाके लिये छूटनेका सर्वोत्तम उपाय है। और किसी रास्तेसे दुःख नहीं मिटेगा, चाहे हम जीवनभर रोते और कलपते रहें।

जो सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वलोकमहेश्वर भगवान् सबके प्रेरक, सर्वान्तर्यामी और सबके परम सुहृद् हैं—अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको तथा प्राणोंको और समस्त धन-जनादिको उनके समर्पण करके उन्हींपर निर्भर हो जाना सब प्रकारसे परमेश्वरके शरण होना है। अर्थात् बुद्धिके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्‌को ही परम प्राप्य, परमगति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना, उनको अपना एकमात्र स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी मानकर सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना तथा सब कुछ भगवान्‌का समझकर और भगवान्‌को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्‌के आज्ञानुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना, जो कुछ भी दुःख-सुख प्राप्त हों, उनको भगवान्‌के द्वारा भेजे हुए समझकर पुरस्काररूपमें उन्हें सिर चढ़ाकर सदा संतुष्ट रहना, भगवान्‌के किसी भी विधानमें कभी किञ्चिन्मात्र भी असंतुष्ट न होना, मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भगवान्‌के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना, अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करते रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरके शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं। शरणागतिके इस भावको आदर्श रखकर जहाँतक बने भगवान्‌के शरण होकर उनका भजन, ध्यान, नाम-जप और कीर्तन करनेसे तथा सत्संग करनेसे शान्ति मिल सकती है। [समाप्त]

मानस-निरोध

(पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रायः यह प्रश्न हुआ करता है कि साधारण स्थितिमें मन कुछ शान्त भी रहता है, परंतु भगवान्‌का ध्यान, स्मरण या मन्त्रजप करते समय तो मन और भी चञ्चल हो उठता है। जिन वस्तुओं और कार्योंका साधारण दशामें स्मरण भी नहीं होता, वे भी जपादिके समय आ उपस्थित होते हैं। अतः मनोनिरोधकी दृष्टिसे तो ऐसा जान पड़ता है कि जप, ध्यानादि न करना ही श्रेष्ठ है।

निःसंदेह ऐसी स्थिति होती है, परंतु इसमें भी जपपर अधिक विश्वास करना उचित है। जो लोग यह कहते हैं कि ध्यान-जप आदिसे कुछ नहीं होता, उनकी अपेक्षा उनमें विशेषता है, जो जप-ध्यान आदिमें चञ्चलताकी वृद्धिका अनुभव करते हैं। यदि अलौकिक हेतुओंसे अनिष्ट होता है, तो उनसे इष्टकी भी सम्भावना की जा सकती है। जिस कार्यसे कुछ होता है, उसीपर विश्वास होता है। जप, ध्यान, स्मरणसे मनकी चञ्चलता बढ़नेपर साधकको चाहिये कि उत्साह-भङ्ग न होने दे। अधिक तत्परतासे जप, ध्यान करे और मनकी चञ्चलतासे अपने साधनकी सफलता और प्रभावकारितापर विश्वास लाये। जैसे अति चञ्चल बंदर भी तबतक शान्त रहता है, जबतक उसके ग्रहण या बन्धनका उपक्रम न किया जाय, किंतु ग्रहण या बन्धनका उपक्रम होते ही फिर उसकी चञ्चलताका पता लगता है। इसी तरह अति चञ्चल मन भी तबतक कुछ शान्त रहता है, जबतक भजन-ध्यानद्वारा उसके निरोधका प्रयत्न नहीं किया जाता, परंतु साधक जैसे ही उसके निरोध या नाशके लिये भजन-ध्यानका आरम्भ करता है, वैसे ही मन व्याकुल होकर अपने-आपको बचानेके लिये भागने लगता है। अतः मनका भागना देखकर साधकको समझना चाहिये कि मनपर हमारे साधनका प्रभाव पड़ा है। वह आत्मनिरोध या आत्मनाशके भयसे भाग रहा है, यह नहीं कि वह हमारे साधनोंको कुछ समझता ही न हो और उसकी उपेक्षा करता हो। अब यदि हम सावधानी और तत्परतासे भजन, ध्यानादि साधनोंका अनुष्ठान करते जायँगे, तो यह भागते-भागते परिश्रान्त होकर पकड़में आ सकेगा। ग्रहण या निरोधका प्रयत्न न करनेपर, जैसे बंदर निश्चिन्त होकर बैठ जाता है, वैसे ही ध्यान-भजन छोड़ देनेपर मन भी निश्चिन्त हो जाता है। जैसे मक्षिकाएँ अपवित्र पदार्थोंपर बड़े चावसे बैठती हैं, परंतु चन्दन-पुष्पादि दिव्य पदार्थोंपर नहीं बैठतीं, दीपशिखापर तो आत्म-नाशके भयसे कदापि बैठना ही नहीं चाहतीं, वैसे ही मन भी अपवित्र बाह्य विषयोंमें आसक्त होता है, क्योंकि वहाँ उसकी वृद्धि होती है। परंतु सात्त्विक आश्रयोंसे एवं भगवान्‌के स्वरूप, गुण, लीला, नाम आदिकोंके स्पर्शसे वह डरता है। अतएव भजन, ध्यानसे वह पूर्ण प्रयासके साथ भागना चाहता है। फिर भी मन जीवका करण (ज्ञानादिका साधन) है, अतः उसे बार-बार बाह्य विषयोंसे हटाकर भगवत्स्वरूप गुण-चरित्रादि-प्रतिपादक सद्ग्रन्थोंके श्रवण, मनन, मन्त्रजप एवं स्वरूप-ध्यानमें लगानेसे वह शनैः-शनैः वशमें आ सकेगा—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

वस्तुतः मनोनिरोध-प्रसङ्ग तो बहुत पीछे उठना चाहिये। प्रथम तो मनकी मनन-परम्परा एवं विचारधारा सात्त्विक हो, इसीपर अधिक जोर देना चाहिये। जैसे गङ्गा आदि सरिताओंके प्रवाहोंको परावर्तित कर उनको उद्गमस्थानमें पहुँचाकर सुखा डालना अति दुष्कर है, वैसे ही मनके अनन्त वृत्तिप्रवाहोंको अत्यन्त रुद्ध करना भी अति दुष्कर है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति—इन पञ्चविध वृत्तियोंका आत्यन्तिक निरोध निर्विकल्प समाधिमें ही होता है। प्रथम तो अक्लिष्टा या सात्त्विकी वृत्तियोंका अवलम्बन करके क्लिष्टा अर्थात् राजसी, तामसी वृत्तियोंका निरोध करना चाहिये। उसके भी पहले देह एवं इन्द्रियोंकी उच्छृङ्खलताका निवारण करना चाहिये। तदर्थ वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान परमावश्यक है। योगशास्त्रमें भगवत्पादपङ्कज-समर्पणबुद्ध्या स्वधर्मानुष्ठान चित्तनिरोधका साधन माना गया है। देह, हस्त, पाद, वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंकी चपलताका मिटाना कठिन है। इसीलिये शास्त्रोंने कहा है—

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।

निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तसेवनम्॥

अर्थात् मौन, अपरिग्रह, निराशा, निरीहा (निश्चेष्टता), एकान्तसेवन आदि योगके प्रथम द्वार हैं, जिन्हें प्राप्त कर लेनेपर भी बहुत कुछ शान्ति प्राप्त हो जाती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान—इन यम-नियमोंका अनुष्ठान निरोधके सभी तीव्र उपायोंकी अपेक्षा बहुत सरल है, परंतु इनके अभ्याससे ही प्राणीको योगके प्रत्यक्ष चमत्कार अनुभूत होने लगते हैं। वस्तुतः आजकल लोगोंमें कहने, सुनने, समझनेकी ही परिपाटी अवशिष्ट रह गयी है, अनुष्ठान-परम्परा लुप्त-सी हो गयी है। योगशास्त्रकी सम्मति है कि साधकको किसी भी योगकी भूमिकाका अभ्यास होनेसे ऊपरकी भूमिकाका मार्ग अपने-आप विदित हो जाता है। अतएव योग ही योगीका गुरु होता है। यम, नियम, आसनका अभ्यास होनेसे प्राणकी गतिमें सूक्ष्मता अपने-आप होती है। साधारण रीतिसे भी प्राणायाम करनेसे चित्तके चाञ्चल्यका अभाव और धारणाकी योग्यता हो जाती है। इस तरह अच्छे पुरुषों तथा ग्रन्थोंके सङ्ग एवं अभ्याससे और सात्त्विक वातावरणमें रहनेसे देह, इन्द्रियोंकी सभी चेष्टाएँ सात्त्विक ही होती हैं, तत्पश्चात् सद्विचारों एवं सत्सङ्कल्पोंसे सद्भावना और सत्कर्मोंकी वृद्धि होती है। फिर तो उससे प्राणीका जीवन ही मङ्गलमय हो जाता है। वस्तुतः दुराचार, दुर्विचार एवं दुर्भावना ही सभी अनर्थोंका मूल है। यदि सत्सङ्ग, सच्छास्त्राभ्यास एवं समीचीन वातावरण-सेवनद्वारा सदाचार, सद्विचारकी सद्भावनाओंसे उनका बाध किया जा सका, तब तो निर्विकल्प समाधि भी दूर नहीं है। उसके बिना तो सब कुछ दुर्लभ ही है। यद्यपि ऊँचे-ऊँचे साधनोंके लिये सभी लोग लालायित होते हैं, तथापि इस सुगम किंतु अतिदिव्य साधनकी ओर लोगोंका ध्यान कम जाता है।

यह स्पष्ट है कि एक सङ्कल्प या विचारसे दूसरे सङ्कल्प या विचारका बाध होता है। मनमें जभी कुत्सित सङ्कल्प उठें, शीघ्र ही उन्हें सद्विचार या सङ्कल्पसे दूर किया जा सकता है। भगवद्ध्यान, भगवन्नामजप, भगवत्स्मरण या भगवच्चरित्र-चिन्तनसे दुर्विचार, दुर्भावना या निरर्थक प्रपञ्च-चिन्तनका बाध सरलतासे हो सकता है। भगवान्की लीलाओं एवं चरित्रोंके रसास्वादनमें आसक्त होते ही मनसे असत्य भावनाओंका निकलना स्वाभाविक है। नहीं तो सत्समागमसे, सत्सङ्गसे तो अवश्य ही अन्य भावनाएँ मिटती हैं। ऐसा न हो सके, तो भी मनोरञ्जक अन्य कथानकों या पुस्तकोंसे अवश्य ही मनको असद्विचारों एवं असद्भावनाओंसे रोकना चाहिये। विचार, सङ्कल्प या भावनाएँ मनुष्यके पास ऐसे दुर्लभ पदार्थ हैं, जिनसे प्राणी अपना कल्याण और सर्वनाश दोनों ही कर सकता है। कुत्सित एवं असद्-विषयोंके विचार या भावनासे प्राणियोंके मनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। भगवान्की मायाशक्तिका अंश ही जीवकी मनःशक्ति है। जैसे भगवान्के सङ्कल्पमें विचित्र प्रपञ्चके निर्माण करनेकी शक्ति होती है, वैसे ही उनके अंशभूत जीवके भी सङ्कल्पमें विचित्र शक्ति है, परंतु जब असद्वस्तुके चिन्तनसे विमुख करके वह सात्त्विक पदार्थों एवं भगवान्में ही नियत की जाय, तभी उसका प्रभाव फलित होता है। सद्भावनासे अन्तरात्माका आप्यायन और असद्भावनासे ह्रास होता है। अतएव पहले सात्त्विकी भावनाओंका आश्रयण करके राजसी, तामसी भावनाओंके निरोधपर ही अधिक जोर दिया जाता है। जैसे गङ्गाका प्रवाह सुखानेमें अधिक कठिनाई होनेपर भी प्रवाहका मुख स्वाभिमत दिशाकी ओर फेर लेना दुष्कर नहीं है, वैसे ही मनोभावनाको रोक देनेकी अपेक्षा उसे अपने अनुकूल बना लेना सरल है। बंदरकी चञ्चलता दूर करनेमें पहले उसे एक उद्यानमें भटकनेकी स्वतन्त्रता देनी चाहिये, फिर एक वृक्षमें, फिर एक शाखामें एवं क्रमेण उसे निश्चल बनाया जा सकता है। वैसे ही मनको भी प्रथम अनेक सात्त्विक पदार्थोंके चिन्तनमें स्वतन्त्रता होनी चाहिये, फिर शनैः-शनैः सूक्ष्म-सूक्ष्म विषयोंमें स्थितिका प्रयत्न भी सार्थक हो सकता है। इसलिये निर्गुणोपासकोंको प्रथम स्थूल-प्रपञ्चाभिमानी अव्याकृतकी पूर्ण उपासना कर लेनेके पश्चात् कार्य-कारणातीत, परमसूक्ष्म, तुरीय ब्रह्मके चिन्तनमें योग्यता तथा अधिकार प्राप्त होता है। सगुण ब्रह्मोपासकोंके लिये भी सर्वकामत्व, सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वगन्धत्व, सर्वरसत्व, भामनीत्वादि अनन्त गुणगणोंका चिन्तन विहित है। सगुण एवं साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्मके उपासकोंके लिये भी इसी तरह अनन्त चरित्रों, गुणों एवं नामोंका अनुसंधान विधित्सित है।

मनका स्वभाव है कि वह विषयोंके चिन्तनसे विषयोंमें फँसता है और भगवान्‌का चिन्तन करते-करते उन्हींमें आसक्त हो जाता है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २७)

रूक्ष-से-रूक्ष विषयका भी चिन्तन करनेसे उसमें सङ्ग, आसक्ति एवं राग हो जाता है—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।'

मनको पहले विस्तृत बृहत् विषयमें स्थिर किया जाता है। भगवान्‌के स्वरूप, गुण, नाम एवं चरित्रोंका चिन्तन करते-करते मनकी चञ्चलता शान्त हो जाती है, फिर सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के मधुर, मनोहर स्वरूपमें चित्त स्थिर किया जा सकता है। उसमें भी स्वरूप-चिन्तनसे चञ्चल होनेपर मन्त्रचिन्तन, उससे भी उपरत होनेपर गुण या चरित्रका चिन्तन करना चाहिये। पुनः शान्त होनेपर स्वरूपानुसंधान करना होता है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

जैसे गज युक्ति एवं अङ्कुशसे ही वशमें होता है, वैसे ही मन भी युक्तिसे ही वशमें होता है। चरित्र, नाम और स्वरूपानुसंधानकी महिमासे मनमें भगवान्‌की मधुर मूर्ति प्रकट होती है। बस, उसके प्रकट होते ही मनकी उसमें आसक्ति और एकाग्रता हो जाती है। अत्यन्त प्रेमासक्तिसे जब शिथिल मन ध्येयस्वरूपको भी नहीं ग्रहण कर सकता है, तब ध्येयके बिना ध्यान और ध्याताका भी अभाव हो जाता है, उस समय अनिर्देश्य, शुद्ध, अखण्ड, सच्चिदानन्दका प्रकाश होता है। जो ध्याता, ध्यान एवं ध्येयका प्रकाशक था, वही इस अवसरमें ध्याता, ध्यान, ध्येयके अभावका भासक होकर व्यक्त होता है। बस, यही मनोनिरोधकी चरम सीमा और चरम फल है।

मनको शान्त करनेके लिये उपनिषदोंने बहुतसे उपाय वर्णन किये हैं। भिन्न-भिन्न वस्तुओंकी सत्तासे ही मनमें अनेक प्रकारके विक्षेप होते हैं। अतः यह भावना करनी चाहिये कि समस्त विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न होता है, उन्हींमें उसकी स्थिति और प्रलय होता है, अतः सब कुछ भगवान्‌का ही स्वरूप है। जैसे समुद्रसे उत्पन्न तथा उसीमें स्थित और विलीन होनेवाले तरङ्ग, फेन, बुद्बुद् समुद्र ही हैं, मिट्टी और सुवर्णसे उत्पन्न, उनमें स्थित एवं विलीन घट, शराव तथा मुकुट-कुण्डलादि सब कुछ मृत्तिका एवं सुवर्ण ही हैं, वैसे ही भगवान्‌में ही उत्पन्न, स्थित विलीन होनेवाला समस्त विश्व भगवत्स्वरूप ही है। शत्रु-मित्र, उदासीन, अनुकूल, प्रतिकूल सभी वस्तु भगवान्‌का ही स्वरूप है। ऐसी भावनासे राग-द्वेषादि चित्तके अनेक विक्षेप शीघ्रतासे मिट जाते हैं। समस्त जीव भगवान्‌के ही अंश हैं, सर्वभूतोंमें जीवरूपसे भगवान् ही विराजमान हैं, ऐसी भावनासे ही मनमें शान्तिका संचार होता है। किसीका भी तिरस्कार, अपमान भगवान्‌का ही अपमान समझकर सर्वत्र शुद्ध बुद्धिसे हिताचरण अतिशीघ्र ही मनोविक्षेप दूर कर देता है। जभी मन कामादि दोषोंसे विकृत हो, तभी उक्त भावनासे शीघ्र मन शान्त किया जा सकता है। एक सङ्कल्प या विचारसे दूसरे सङ्कल्पोंका रुक जाना स्वाभाविक है। भावनामें असमर्थ प्राणीको श्वासकी गतिको रोककर बड़े वेगसे किसी नाम या मन्त्रका जप करना चाहिये। मनको एक वेगमें निरत कर देनेसे दूसरे वेग अपने-आप शिथिल हो जाते हैं—

सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी॥

अथवा दीर्घस्वरसे भगवन्नामका उच्चारण करके मनोराज्यपर विजय प्राप्त हो सकता है। पहले-पहल हठ तथा प्रयत्नसे मनके विकारोंको रोकना आवश्यक है। दुःसङ्कल्प, दुर्विचारोंको रोककर उत्तम विचारों एवं सङ्कल्पोंका प्रवाहित करना ही मनोनिग्रहकी मुख्य कुंजी है। निर्गुण-सगुण भगवान्‌के बोधक शास्त्रोंके विचारसे मन शान्त होता है। मन शान्त होनेपर सुखसे उसे ध्येयतत्त्वमें स्थिर किया जा सकता है। भगवान्‌के चरित्र, मङ्गलमयी लीलाओंके श्रवण, कीर्तन, मननसे मनकी भयानकता मिट जाती है, फिर ध्यान और धारणामें बड़ी सहायता मिलती है। भगवान्‌की मायाका वर्णन और अनुमोदन करनेसे प्राणीकी अन्तरात्मा मायामोहित नहीं होती—

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
श्रद्धया शृण्वतो राजन् माययाऽऽत्मा न मुह्यति॥

शुद्ध विचारके साथ-साथ शुद्ध कर्मोंकी भी बड़ी आवश्यकता होती है। वेदान्तक्रमसे प्रपञ्चकी परब्रह्म

परमात्मासे उत्पत्ति और उन्हींमें क्रमसे लयकी भावनासे चिर शान्ति मिलती है। शुद्ध, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्द भगवान्से आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जलादि— क्रमसे प्रपञ्चोत्पत्तिकी भावना करके फिर विपरीतक्रमसे परमेश्वरमें प्रपञ्चके लयकी भावना करनी चाहिये। पार्थिव प्रपञ्चको केवल पृथ्वीमें और उसे जलमें, जलको तेजमें लय करके केवल तेजका ही चिन्तन करना चाहिये। तेजको वायुमें और उसे आकाशमें लय करके आकाशको स्वप्रकाश, आनन्दरूप अनन्त सत्में लय कर देना चाहिये। जबतक स्थिति रह सके, तबतक केवल सत्का ही चिन्तन करना और विक्षेप होनेपर पुनः सत्से आकाशादिक्रमेण सृष्टिकी भावना करनी चाहिये। इस तरह सृष्टि और प्रलयकी भावना करनेसे मन शान्त हो जाता है। तात्पर्य यही कि मनको कर्तव्यमुक्त कर देनेसे वह अन्यान्य विषयोंमें अवश्य भटकेगा, परंतु कार्य दे देनेसे उसकी चञ्चलता स्वयं शान्त हो जायगी। यदि केवल मनसे जप किया जाय और साक्षीरूपसे मनके कर्तव्योंको देखता रहा जाय, तब भी मन शान्त होता है। जैसे बेगारीमें पकड़ा हुआ मजदूर देख-रेख न करनेसे स्वेच्छाचारी होता है, वैसे ही मनको सावधानीसे न देखनेपर वह स्वेच्छाचारी हो जाता है।

जब मनको किसी मन्त्रके जपमें लगा दिया जाय और मानस मन्त्रकी धारा चल पड़े, तब केवल साक्षीरूपसे मनके व्यापारको देखते जाना चाहिये। बस, मानस मन्त्रकी धारामें दूसरी वस्तु या दृश्य न दीखना चाहिये, सावधानीसे मनको अन्य विषयोंकी ओर न जाने देकर केवल जपमें लगाना चाहिये और जिह्वासे जप न करके मनसे ही जप करना चाहिये। हाँ, जब मनसे नहीं बने, तब तो जिह्वासे भी जपना ही चाहिये। जिह्वासे भी जपकी अद्भुत महिमा है, किंतु यह तो मनके निरोधका एक प्रकार है। यदि चरित्रश्रवण करनेसे भगवान्की मनोहर मूर्ति हृदयमें आ जाय, तब तो उसके सौन्दर्य, माधुर्यमें मनका स्वभावसे ही आकर्षण और एकाग्रता हो जाती है। मूर्ति और चित्रपटोंमें भी नेत्र और मनको लगानेसे मन शान्त होता है। प्रसिद्ध मन्दिरों, मूर्तियों एवं सूर्य-मण्डलमें भगवान्की तेजोमयी मूर्तिके ध्यानसे चित्तकी एकाग्रता होती है।
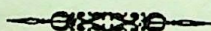
है नीको मेरो देवता कोसलपति श्रीराम

है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।
सुभग सरोरुह लोचन, सुठि सुन्दर श्याम ॥
सिय-समेत सोहत सदा छबि अमित अनंग।
भुज बिसाल सर धनु धरे, कटि चारु निषंग ॥
बलि-पूजा चाहत नहीं, चाहत एक प्रीति।
सुमिरत ही मानै भूलो पावन सब रीति ॥
देहि सकल सुख, दुख दहै, आरत-जन-बंधु।
गुन गहि, अघ-औगुन हरै अस करुनासिंधु ॥
देस-काल-पूरन सदा बद बेद पुरान।
सबको प्रभु सबमें बसै, सबकी गति जान ॥
को करि कोटिक कामना, पूजै बहु देव।
तुलसिदास तेहि सेइये, संकर जेहि सेव ॥

चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

'भाव' जब चित्त-प्रदेशमें निश्चल हो जाता है, तब वह 'स्थायिभाव' कहलाता है। वैष्णवशास्त्रोंके अनुसार 'कृष्णरति' या 'भगवद्रति' ही 'स्थायिभाव' है। भगवद्रतिका प्रत्येक स्तर 'स्थायिभाव' ही है, परंतु वह एक ही भाव चित्तवृत्तिके भेदसे विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित होता है। आचार्य भरतने रसके आठ विभाग किये हैं—शृंगार, वीर, भयानक, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण और हास्य। किसी-किसीने 'शान्त' रसको नवाँ भाव माना है। वैष्णव महात्माओंने भगवद्रसके रूपमें रसोंका विभाजन करते हुए रति या स्थायिभावके पाँच भेद किये हैं—'शान्ति', 'प्रीति', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'माधुर्य' (प्रियत्व)। इन पाँच स्थायिभावोंके विकासमें पाँच रसोंका उदय होता है। वे हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। यह अनिवार्य नहीं है कि इनका क्रम-विकास ही हो, पर यह निर्विवाद है कि अगले-अगले रसमें पिछले-पिछले रसकी निष्ठा अवश्य रहती है। जैसे आकाशादि पञ्चभूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें वर्तमान रहते हैं, वैसे ही इस क्षेत्रमें भी रसोंकी स्थिति होती है। जैसे पृथ्वीमें पाँचों गुणोंकी स्थिति है, वैसी ही माधुर्यमें शान्त-दास्यादिके समस्त गुणोंकी विद्यमानता है। इसे नीचेके उदाहरणसे समझिये—

आकाश या व्योममें—शब्द एक गुण है।

वायु या मरुत्में—शब्द, स्पर्श—ये दो गुण हैं।

अग्नि या तेजमें—शब्द, स्पर्श, रूप—ये तीन गुण हैं।

अप् या जलमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस—ये चार गुण हैं।

क्षिति या पृथ्वीमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच गुण हैं। इसी प्रकार शान्तादि रसोंको समझना चाहिये।

शान्तरस—निष्ठामय है।

दास्यरस—निष्ठा और सेवामय है।

सख्यरस—निष्ठा, सेवा और विश्रम्भ (संकोच-शून्यता)-मय है।

वात्सल्यरस—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ और ममतामय है।

माधुर्य—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ, ममता और सम्पूर्ण आत्म-समर्पणमय है। इनमें सर्वप्रथम है शान्तरस। इसकी आधारभूता है स्थायिभावकी शान्तिरति। शान्तिका अर्थ 'शम' है। श्रीमद्भागवतके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णमें निरन्तर अनुराग होना ही 'शम' है और ऐसा अनुराग जहाँ होता है, वहाँ लौकिक-पारलौकिक भोग-विषयोंमें विराग होता ही है। भगवान्में एक ऐसी निष्ठा होती है, जिससे विषय-भोगोंमें विरति स्वयमेव हो जाती है। ऐसे शान्तरसके भक्तके जीवनद्वारा भगवान्की भक्तिकी आनन्ददायिनी धारा बहती रहती है। शान्तरसके भक्तमें भगवान्में निर्बाध निष्ठा, समस्त दैवी सम्पदाके गुणोंका समावेश, इन्द्रिय और मनपर विजय, दोष-दुर्गुणोंका अभाव, तितिक्षा, श्रद्धा, निष्कामभाव, दृढ़ निश्चय आदि गुण स्वभावगत होते हैं। यहाँ भोगवासना और भोगासक्तिका अभाव होता है। इसी शान्तरसकी मूल भित्तिपर 'विशुद्ध भगवत्प्रेम'का महान् प्रासाद निर्मित होता है।

पर इस शान्तरसमें भगवान्के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता। इसीलिये रसके आरोहण-क्रमकी दृष्टिसे वैष्णव महानुभावोंने शान्तरसको सबसे नीचा स्थान दिया है। इसका विकास होनेपर एक प्रीतिरसका उदय होता है, जो इसके ऊपरकी अवस्था है। उसे दास्यरस कहते हैं। 'प्रेम' की यह आरम्भिक अवस्था है।

इस भावके भक्तकी निरन्तर यह भावना रहती है कि मैं भगवान्का अनुग्राह्य हूँ, अनुग्रहका पात्र हूँ। अनुग्रह-पात्र 'दास' भी हो सकता है अथवा 'लाल्य' भी। अतः इस रसमें दो प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—'सम्भ्रम-प्रीति' और 'गौरव-प्रीति'।

इनमें दास भक्त अनुग्रहका पात्र होनेके कारण अपनेको भगवान्से बहुत ही नीचा समझता है और भगवान्की कृपा-प्राप्तिके लिये उनको प्रसन्न करना अपना कर्तव्य समझता है। इसीसे 'सम्भ्रम'का भाव उत्पन्न होता है। 'सम्भ्रम'में भगवान्के प्रति भक्तका पराया-भाव होता है। वह सदा ही अपने-आपको अत्यन्त हीन समझकर भगवान्की सेवा करनेको समुत्सुक रहता है। कभी संकोचरहित नहीं हो सकता और सदा उनके अनुग्रहकी इच्छा करता है। यही 'सम्भ्रम-प्रीति' है।

'गौरव-प्रीति'युक्त भक्त अपनेको सदा भगवान्‌के द्वारा रक्षित और लालित-पालित होकर रहनेकी सतत कामना करता है। यह तो परम सत्य है ही कि परम पुरुष अखिल-विश्व-ब्रह्माण्डनायक भगवान् ही चराचर प्राणि-पदार्थमात्रके रक्षक और पालक हैं। परंतु धर्मके क्षेत्रमें उपास्य और उपासकमें प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना आवश्यक है। धर्मक्षेत्रमें व्यक्तिगत भावना और कामनाका एक विशिष्ट स्थान है। ये भावना-कामनाएँ प्रत्येक मनुष्यके मनमें होती हैं, पर वे प्रायः सुप्त रहती हैं। अनुकूल संगादिके द्वारा उनकी अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती है। तब वह भक्त इस भावनामें निमग्न हो जाता है कि भगवान् मेरे रक्षक, पालक तथा विधाता हैं। एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु और रक्षक हैं। इसीको शास्त्रोंमें 'गौरव' कहा गया है। इस भावमें जिस विचारसे सुख मिलता है, उसे 'गौरव-प्रीति' कहते हैं। यही 'अनन्यभाक् भजन' है।

'दास'-भक्तोंके चार प्रकार माने गये हैं—१-अभिकृत, २-आश्रित, ३-पारिषद और ४-अनुग। 'अभिकृत' दास-भक्तोंमें ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, वरुण आदि मुख्य माने जाते हैं। 'आश्रित' दासभक्तोंके तीन भेद हैं—(१) शरणागत, (२) ज्ञाननिष्ठ और (३) सेवानिष्ठ। विभीषण, सुग्रीव, जरासन्धके कारागारमें बंदी राजागण और कालियनाग आदि 'शरणागत' हैं। भगवान्‌के दिव्य समग्र स्वरूप तथा लीला-तत्त्वको जानकर जिन महानुभावोंने मोक्षकी इच्छाका सर्वथा परित्याग कर केवल भगवान्‌का ही परमाश्रय लेकर उनके भजन-रसके आस्वादनमें ही अपनेको लगा रखा है, ऐसे सनत्कुमार, शौनक, नारद और शुकदेव आदि 'ज्ञाननिष्ठ' हैं। और जिन्होंने भुक्ति-मुक्तिकी सारी स्पृहासे अतीत होकर केवल भगवत्सेवामें ही अपनेको लगा रखा है और दिये जानेपर भी मुक्तिको स्वीकार न करके जो सदा सेवापरायण ही हो रहे हैं, ऐसे श्रीहनुमान्, चन्द्रध्वज, बहुलाश्व, इक्ष्वाकु, पुण्डरीक आदि 'सेवानिष्ठ' दास-भक्त हैं। 'पारिषद'-भक्त वे हैं जो सारथि आदि कार्योंके द्वारा सेवा करते हैं तथा सेवाके लिये साथ रहते हुए समय-समयपर सलाह आदि भी दिया करते हैं, जैसे—उद्धव, विदुर, संजय, भीष्म, शक्रजित् आदि। अब रहे 'अनुग' दासभक्त, जो सदा प्रभुकी सेवामें ही लगे रहते हैं। ये दो प्रकारके हैं—'पुरस्थ' और 'व्रजस्थ'। सुचन्द्र, मण्डल, स्तम्ब और सुतम्बादि 'पुरस्थ' हैं, और रक्तक, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, सुविलास, पत्रक, पत्री, प्रेमकन्द, आनन्द, चन्द्रहास, पयोद, शारद और रसद आदि 'व्रजस्थ' भक्त हैं। इतना स्मरण रहे कि भगवान्‌का दास न किसी दूसरेका 'दास' होता है और न किसी दूसरेको 'दास' बनाता है।

परंतु इस दास्यरसमें एक कमी है, जो दासके द्वारा ऐसे कर्म-आचरण नहीं होने देती, जिनसे भगवान् श्रीकृष्णको विशेष आनन्द प्राप्त हो। वह है—अपनेमें हीनता, दीनता और मर्यादाका भाव, जो सदा ही जाग्रत् रहता है और सदा ही सम्भ्रम-संकोचका उदय कराता रहता है। अतएव इससे भी आगे 'सख्यभाव'में पहुँचना है। सख्यका स्थायिभाव 'सख्यरति' है। सख्य होता है दो समान गुणधर्मा मनुष्योंमें। उसमें समानताके भावकी प्रीति होती है, इससे भक्त अपनेको दीन-हीन नहीं समझता और परस्पर गुप्त-से-गुप्त रहस्यकी बात भी छिपायी नहीं जाती। दास्यरसके मर्यादा-संकोच-सम्भ्रमका प्रतिबन्ध इसमें नहीं है, न उतना मान-सम्मान है।

सख्यरसके भक्तोंके भी दो भेद हैं—'पुरसम्बन्धी' (ऐश्वर्यज्ञानयुक्त) और 'व्रजसम्बन्धी' (विशुद्ध भक्तिमय)। अर्जुन, भीम, द्रौपदी, उद्धव, सुदामा ब्राह्मण आदि 'पुरसम्बन्धी' भक्त हैं। व्रजसम्बन्धी सख्यभक्तोंमें ऐश्वर्यज्ञान नहीं है, पर उनकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) सुहृद् सखा, (२) सखा, (३) प्रिय सखा और (४) प्रियनर्मसखा। भगवान् श्रीकृष्णसे कुछ अधिक उम्रके वात्सल्यभावसे युक्त, सदा-सर्वदा श्रीकृष्णकी देख-रेख रखनेवाले सुभद्र, भद्रवर्धन, मंडलीभद्र, गोभट, यक्षेन्द्रभट, भद्राङ्ग, वीरभद्र, बलभद्र, महागुण और विनय आदि 'सुहृद् सखा' हैं। जो श्रीकृष्णसे कुछ कम उम्रके और श्रीकृष्णकी सेवा-सुखके ही अभिलाषी हैं—वे देवप्रस्थ, भानु, कुसुमपीड, मणिबन्ध, वरूथप, विशाल, वृषभ और ओजस्वी आदि 'सखा' हैं। जो श्रीकृष्णके समान उम्रके हैं, जिनमें वात्सल्य और दास्य-रसका सम्मिश्रण सर्वथा नहीं है। अपनेको श्रीकृष्णकी बराबरीका मानते हैं तथा जो श्रीकृष्णके साथ सदा निस्संकोच खेला करते हैं, कंधोंपर चढ़ा लेते हैं, स्वयं चढ़ जाते हैं, कभी मान करके रूठ जाते हैं तथा श्रीकृष्ण जिनको मनाते हैं,कभी श्रीकृष्णका जरा-सा भी मुख उदास देखते हैं तो रो-रो मरते हैं और अपने प्राण देकर

भी उन्हें सुखी देखना चाहते हैं—वे श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, किंकण, स्तोककृष्ण, भद्रसेन, पुण्डरीक, अंशु, विटंक और विलासी आदि 'प्रियसखा' हैं। और इन लोगोंसे भी अधिक भावयुक्त अत्यन्त अन्तरङ्ग, गोपनीय लीलाओंके सहचर सुबल, अर्जुनगोप, वसन्त, गन्धर्व और उज्ज्वल आदि 'प्रियनर्मसखा' हैं। इस सख्यरसके भक्तमें जगत्के सभी प्राणियोंके प्रति सहज 'मैत्री-भावना' हो जाती है।

सख्यरसमें कोई संकोच-सम्भ्रम न होकर विश्रम्भका भाव होनेपर भी एक कमी है। इसमें देश-काल-परिस्थितिकी कुछ ऐसी बाधाएँ रहती हैं, जिनसे भक्तका सारा समय और ध्यान केवल इसी भावमें नहीं लगा रहता। वे बाधाएँ बहुत अंशमें वात्सल्य-रसमें पहुँच जानेपर हट जाती हैं।

वात्सल्य-रसका स्थायिभाव 'वात्सल्य-रति' है। इसमें एक विचित्र ममताका उदय होता है। श्रीकृष्ण मेरा लाल है, मेरा दुलारा बच्चा है। यहाँ भगवान् उस भक्तके पुत्र होकर रहते हैं। श्रीकृष्ण यशोदामैयाका स्तन्यपान करके तथा नन्द बाबाकी गोदमें बैठकर जो सुख-लाभ करते हैं और जो सुख-सौभाग्य उनको देते हैं, उसकी कहीं कोई तुलना नहीं। इस वात्सल्य-रसकी ऐसी विलक्षणता है कि यह भगवान्की भगवत्ताको सर्वथा छिपा-सी देती है। नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी भगवान्के आनन्दांशसे सम्भूत देव-देवी ही हैं। वे भगवान्के स्वरूपका ज्ञान न रखते हों यह सम्भव नहीं है, तथापि वात्सल्य-रसके आस्वादनके लिये इनके सामने भगवान् ही अपने सर्वलोक-महेश्वरत्वको, अनन्त ऐश्वर्य-ज्ञान-स्वरूपको नन्हेंसे नन्दकुमारके रूपमें छिपा लेते हैं। लीलाके लिये अपने उस ऐश्वर्य-स्वरूपकी कभी-कभी झाँकी भी करा देते हैं। भगवान्ने मिट्टी खानेके समय, दूध पीते समय, दामोदर-लीलामें ऐश्वर्य दिखाया, पर यशोदा मैयाके उमड़ते मातृभावके सामने उसका कोई भी प्रभाव नहीं रह गया।

इस वात्सल्य-रसमें स्नेहका महान् रस-समुद्र उमड़ता रहनेपर भी यही सर्वोच्च रस नहीं है। रसकी सर्वोच्च परिणति है—कान्त या मधुरभाव अथवा माधुर्य-रसमें। यह मधुर या परमोच्च उज्ज्वल रस शृङ्गाररसका अतीन्द्रिय, दिव्यस्वरूप है। यहाँ इस बातको सदा स्मरण रखना चाहिये कि इस माधुर्य-रसकी लौकिक नर-नारियोंके दाम्पत्य-प्रेमसे कहीं भी, कोई भी समानता नहीं है। हम मनुष्योंमें प्रेम और स्नेहके जितने भी सम्बन्ध हैं, सभी स्वार्थमूलक हैं—अपने सुखकी कामनासे संयुक्त हैं। पर यह भगवत्प्रेम-रस, जिसकी आस्वादनलीला व्रजमें हुई थी केवल और केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही है। लौकिक प्रेम अहंसे युक्त 'स्वार्थमूलक' है और यह माधुर्य-प्रेम त्यागपूर्ण 'प्रियतम-सुखमूलक' है। इसीसे यह 'काम' है और यह 'प्रेम' है। दोनोंमें उतना ही अन्तर है, जितना घोर अन्धकार और परमोज्ज्वल प्रकाशमें है। लौकिक प्रेम कितना ही श्रेष्ठ तथा पूर्ण हो, वह इस दिव्यभावतक पहुँचनेकी कदापि सामर्थ्य नहीं रखता। लौकिक मलिन विषयकामकी तो बात ही क्या है, मुक्तिकी कामना भी यहाँ सहज ही कलंक-सी त्याज्य है।

श्रीरुक्मिणीजी आदि महिषीगण, श्रीलक्ष्मीजी आदि नित्यदेवीगण और महाभाव-स्वरूपा श्रीराधिका आदि गोपाङ्गनागण इस माधुर्य-रसकी आदर्श हैं। गाढ़ता और मृदुताके अनुसार इस माधुर्यरतिके तीन भेद माने गये हैं—साधारणी, समञ्जसा और समर्था।

भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकालीलामें 'साधारणी', मथुरामें 'समञ्जसा' और वृन्दावनमें 'समर्था' रति है। यद्यपि द्वारकाकी महाभाग्यवती महिषियोंका प्रेम बहुत ही ऊँचा है और उनकी मन-बुद्धि सदा ही प्रियतम भगवान्के प्रति समर्पित है, पर उनका प्रेम-समर्पण वेद-विधिके अनुगत है। उनमें गृहस्थ-धर्मानुसार पुत्र-कन्यादिके लालन-पालनकी आशा और अपने स्वामीके द्वारा आत्म-सुख-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा भी है, यह 'साधारणी-रति' है जिसमें पुत्र-कन्याके लालन-पालनादिकी तथा अपने रक्षणावेक्षणकी अपेक्षा नहीं है। प्रियतम श्रीकृष्णको सुख देना और उनसे सुख पाना 'आत्म-सुख' और 'प्रियतम-सुख'का मिश्रण यों जो 'समरस-विलास' है, वह 'समञ्जसा-रति' है। परस्पर गुणजनित सुख-प्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे यह भी 'समर्था-रति' नहीं है। 'समर्था-रति' तो केवल श्रीगोपाङ्गनाओंमें ही है, जहाँ स्व-सुख-वासनाके लेश-गन्धकी भी कल्पना नहीं है। रसराज आनन्दस्वरूप भगवान् इस शुद्ध प्रेमरसके आस्वादनमें ही परमसुख प्राप्त करते हैं। इन श्रीगोपीजनोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं श्रीराधाजी; वे परम निर्मल, परम उज्ज्वल, दिव्यातिदिव्य रसकी अनन्त अगाध सागर हैं। श्रीराधारानी महाभावस्वरूपा हैं। श्रीलक्ष्मीजी,

महिषीगण और व्रजसुन्दरियाँ आदि सभी श्रीकृष्ण-प्रेयसियाँ इन श्रीराधाकी ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीराधा ही अनन्त श्रीकृष्ण-कान्तागणकी बीजरूपा मूलशक्ति हैं। लक्ष्मीगण इनकी 'अंश-विभूति', महिषीगण 'वैभवविलास' और व्रजाङ्गनाएँ 'काय-व्यूहरूपा' हैं।

श्रीराधाका यह प्रेम पूर्ण और असीम है। यह सदा बढ़ता ही रहता है। यह सर्वश्रेष्ठ विशुद्ध, सरल, निर्मल और श्रीकृष्ण-सुखैकतात्पर्यमय एकमात्र श्रीकृष्णसुखरूप है। यही परमोज्ज्वल, परमोत्कृष्ट नित्यानन्तरूप प्रेम परम पुरुषार्थ है। यही सर्वश्रेष्ठ चरम तथा परम उपासनाका सर्वोपरि सुधा-मधुर दिव्य फल है, जो श्रीराधाकी कृपासे प्राप्त हो सकता है।

श्रीगोपीजनके परम पवित्र त्यागभावका अनुकरण करके उनकी भाँति सर्वसमर्पणकी साधना (जिसे 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं) करनेसे श्रीराधाका कृपालाभ सम्भव है।

देवालय-संरक्षण

(श्रीजयगोपालजी सिंहल)

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'—मनुष्य श्रद्धामय है। किसी भी स्थानपर, किसी भी वंश, जाति, परम्परामें मनुष्य जन्म ले, परंतु उसकी श्रद्धा ही उसके स्वरूपका प्रतीक है। कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी बिन्दुपर आकर मानवकी श्रद्धा केन्द्रित हो ही जाती है और वह उसी मानव-बिन्दुके आधारपर उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाता है। भारतवर्ष विश्वका हृदय-स्थान है। आध्यात्मिकता, धार्मिकता इस देशके कण-कणमें व्याप्त है। आजसे नहीं, अनादिकालसे भारतीयोंकी स्वस्थ चिन्तनधारा स्वतन्त्ररूपसे प्रवहमान रही है। मनुष्य-शरीर पाँच तत्त्वोंसे बना है। अतः स्वभावतः मनुष्यकी श्रद्धा एवं स्वभावके अनुसार सगुण ब्रह्मकी पञ्चोपासनाकी ओर प्रवृत्ति होती है। पृथक्-पृथक् तत्त्वके पृथक्-पृथक् देवता होते हैं। अतः जिस तत्त्वकी प्रधानता जिस मनुष्यके स्वभावमें होगी, उसी तत्त्वसे सम्बन्धित देवताके प्रति उसकी स्वाभाविक रुचि होगी। महर्षियोंने विभिन्न मनुष्योंके लिये विभिन्न देवोंकी उपासनाका निर्देश किया है। हमारे देवालय भारतीय संस्कृतिके केन्द्र हैं, जहाँ मनुष्य अपनी श्रद्धा एवं स्वभाव तथा अभिरुचिके अनुसार स्वतन्त्ररूपसे साधना कर आत्मोन्नतिके मार्गपर अग्रसर होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी-तत्त्वके गुण कहे गये हैं और विष्णु, सूर्य, शक्ति, गणपति एवं शिवका इनसे क्रमशः सीधा सम्बन्ध है। अतः मनुष्य अपने स्वभावानुसार न्यूनाधिक रूपमें इन देवताओंकी ओर श्रद्धासे उन्मुख होता है और उनकी आराधनाके लिये, उपासनाके लिये अच्छे-से-अच्छे मन्दिरोंका निर्माण करता है, उनमें प्रतिमाओंकी प्राण-प्रतिष्ठा करता है और इष्टदेवकी मूर्तिके माध्यमसे उक्त परमतत्त्वको प्राप्त करता है। वह अपने मनकी चिन्ता, दुःख, विषमता आदि विषम स्पन्दनोंको अपने भगवद्विश्वासरूपी सम-शक्तिद्वारा पराभूत करते हुए आत्मशक्तिको प्रकाशित करनेमें सफल हो जाता है।

प्राचीन महर्षियोंने बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक इन सभी बातोंपर विचार करते हुए मन्दिरोंका विज्ञान-सिद्ध निर्माण करानेका विधान किया है, जहाँ शङ्ख, घण्टा, घड़ियाल आदिके द्वारा शब्द, धूप-दीप आदिके सुगन्धित वायुसे 'गन्ध' एवं वायुकी शुद्धि विविध रंगोंके वस्त्रालङ्कारों, पुष्पों आदिसे सुसज्जित मूर्तियोंके स्पर्शसे, पूजनसे, दर्शनसे नेत्रोंको आह्लादित कर तृप्ति-लाभ करते हैं। केशर, चन्दन, तुलसी, गङ्गाजल, कस्तूरी-मिश्रित चरणामृत पानकर अनेक विकारोंका शमन करते हैं। दुग्ध, दधि, घृत, शर्करा, मधु-मिश्रित पञ्चामृतके पानसे अनेक शारीरिक विकारोंको दूर कर, इस पाञ्चभौतिक शरीरको देवालयमें प्रवेशका अधिकारी बनाकर पवित्र अलौकिक वातावरणका निर्माण कर आत्मलाभ करते हैं।

अपनी इसी उपासना-पद्धतिको अपनाते हुए भारतीय जनोंने लाखों-करोड़ों वर्षोंसे इस देशके कोने-कोनेमें स्थित नगरों, कस्बों तथा ग्रामोंमें हजारोंकी संख्यामें देवालयोंका निर्माण कर अपनी श्रद्धाकी अभिव्यक्ति की है। प्राचीन कालमें जब वर्तमान भौतिक साधन सुलभ नहीं थे, यहाँके निवासियोंने विशाल पर्वतोंकी दुर्गम कन्दराओं, शिखरों, उपत्यकाओंसे लेकर पवित्र नदियोंकी पावन घाटियोंतकमें बड़े-बड़े विशाल गगनचुम्बी मन्दिरोंका निर्माण किया। उनमें भगवान्‌के अनेक रूपोंके श्रीविग्रह प्रतिष्ठित किये और सहस्रों रुपयोंसे दैनिक भोग तथा शृङ्गार, पूजन-अर्चन आदिके द्वारा अपनी श्रद्धाकी अभिव्यक्ति करते आ रहे हैं।

विदेशी आक्रमणोंसे इन पवित्र धरोहरोंकी रक्षाके लिये हजारों धर्मवीर बलिदानी वीरोंने अपने सिरतक कटाये, सर्वस्व बलिदान करके येन-केन-प्रकारेण इनकी रक्षा की और इनके अस्तित्वको कायम रखा। हमारे पूर्वजोंके अमर बलिदानोंका ही यह फल है जो देवालयोंके रूपमें विद्यमान हैं। भारत स्वतन्त्र हुआ तो इस देशकी धर्मप्राण जनताने सुखकी साँस ली और राष्ट्रभरमें एक नहीं अनेकों दिव्यातिदिव्य एवं भव्यातिभव्य मन्दिरोंका निर्माण कराया और अब भी यह क्रम जारी है। लक्ष्मीके उपासक, धर्मप्रिय, धनाढ्यलोग अपने हृदयमें निहित श्रद्धा एवं भक्तिका प्राकट्य इन देवालयोंके निर्माणके माध्यमसे करते रहे हैं, जिससे यश और प्रसिद्धि मिलना उसका गौण एवं लौकिक फल है। भगवान् लक्ष्मी-नारायणकी कृपासे प्राप्त सम्पत्तिका विनियोग उनके भक्तोंद्वारा, उनके लिये विशाल भव्य मन्दिरोंके रूपमें होना स्वाभाविक ही है। **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'** की भक्तिभावना इन देवालयोंमें होनेवाले भोग-प्रसाद आदिसे स्पष्ट प्रकट होती है। परंतु उस सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् निर्गुण ब्रह्मकी सगुण-साकार श्रीविग्रहके रूपमें होनेवाली उपासनाका एक दुर्बल पक्ष भी है, जिसे छिपाना अनुपयुक्त होगा। उसीपर विचार करने-हेतु यह प्रसङ्ग उठाया गया है। कुछ साधन-सम्पन्न न्यासों एवं समितियों आदिद्वारा संचालित व्यवस्थावाले देवालयोंको छोड़कर आज इन देवालयोंकी, हिन्दू-धर्म, संस्कृति-श्रद्धा एवं भक्तिभावके प्रतीक इन आध्यात्मिक केन्द्रोंकी वर्तमान दशापर देशवासियोंको विचार करना चाहिये। असंख्य मन्दिर उपेक्षित दशामें पड़े हुए हैं। पूजा-भोगकी नियमित व्यवस्था न होनेसे मूर्तियोंमें देवत्व नहीं रहता, ऐसा शास्त्रवचन है। देवत्वके अभावमें उत्तम पवित्र धरोहर अश्रद्धा, उपेक्षा एवं उपहासका कारण बनकर हमपर मूक दृष्टि डालकर कुछ करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। जब वहाँ न घण्टा बजता है न घड़ियाल, न आरती होती है न पूजन-प्रसाद, न सत्संग होता है न सत्-शिक्षाका प्रचार-प्रसार, न प्रकाशकी व्यवस्था है और न सफाईकी। तो ऐसे देवत्वहीन वातावरणमें धर्म-हीन एवं धर्मके शत्रु नास्तिक व्यक्ति चोर और तस्कर बनकर हमारी संस्कृतिघातियोंके रूपमें प्रतिष्ठित हो कला और धर्मके प्रतीक, भक्ति और श्रद्धाके प्रतीक उन मूर्तियोंको देशके बाहर भेज रहे हैं, जो विदेशी विधर्मियों और बड़े-बड़े धनाढ्य अरबपतियोंके ड्राइंग रूमोंकी शोभा बढ़ा रही है।

हम अपनेको धर्मात्मा कहलानेमें निःसंदेह गौरव अनुभव करते हैं। अधिकांश व्यक्ति अपने-अपने विश्वासानुसार नित्य मन्दिरमें जाकर दर्शन-पूजन-अर्चनादि भी करते हैं। विभिन्न अवसरपर बड़े-बड़े धार्मिक अनुष्ठान भी सम्पन्न कराते हैं, जिनमें आज भी लाखों-करोड़ों रुपये नित्य इस धर्मप्राण देशमें व्यय होते हैं, यह संतोषकी बात है; परंतु उन मन्दिरोंके ठीक-ठीक रख-रखावके लिये, मूर्तियोंकी रक्षाके लिये, आज इन भक्तोंतकको समय नहीं है तो फिर अन्योंसे क्या आशा की जायगी कि वे इस पुनीत कार्यकी ओर अग्रसर होंगे। विभिन्न सम्प्रदायोंके मूर्धन्य आचार्योंसे विनम्र, करबद्ध निवेदन है कि वे देवालय-संरक्षण-कार्यकी ओर थोड़ा ध्यान देकर इस अमर थातीकी रक्षा करनेमें मार्ग-दर्शन करें और अपने अनुयायियों, भक्तोंको इस ओर प्रेरित करें कि वे प्राचीन देवस्थानोंकी मरम्मत, सफाई, पुताई, प्रकाश, पानी, पूजा एवं आरतीकी व्यवस्थाके साथ-साथ मूर्तियोंकी सुरक्षाकी ओर शीघ्र ध्यान दें।

सम्पूर्ण देशमें धर्मप्राण जनताको चाहिये कि इस ज्वलन्त प्रश्नपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके अपने-अपने क्षेत्रोंके महात्माओं, विद्वानों, आचार्योंकी संरक्षणतामें योजनाबद्धरूपसे कार्यका संचालन करें। छोटे-बड़े सभी मन्दिरोंकी सूचियाँ तैयार करके उपेक्षित पड़े मन्दिरोंके जीर्णोद्धारमें लग जायँ। थोड़ी-थोड़ी मरम्मत एवं पुताईसे ही चाहे कार्य आरम्भ हो, परंतु यह आज समयकी पुकार है। हमारी आस्थाके मान-बिन्दुओंपर आज संकट है, हमारे चरित्रके हनन एवं धार्मिक संस्कारोंके समूल नष्ट होनेकी स्थिति बनी हुई है। सम्पूर्ण राष्ट्रके सर्वधर्म समभाव और **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**की उदात्त भावनासे परिपूरित होते हुए भी आज इस राष्ट्रके निवासियोंके रक्तमें धर्मविहीनताके विषैले तत्त्व शनैः-शनैः प्रविष्ट हो रहे हैं। इतिहास साक्षी है कि जब भी इस धर्मपर आपत्ति आयी, इसके अनुयायियोंने प्राणपणसे उसकी रक्षा की है। आओ, हम प्रतिज्ञा लें कि आजके इस भीषण कालमें हम अपनी उन पवित्र धरोहरोंकी रक्षामें आजसे ही जुट जायँगे और सभी देवालयोंके निकट-निवासियोंसे सम्पर्क स्थापित कर उन्हें इस पुनीत कार्यके लिये प्रेरित करेंगे।

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

एक वस्तुका निर्माण (बनाना) होता है और एक वस्तुका अन्वेषण (ढूँढ़ना) होता है। ढूँढ़नेसे वही चीज मिलती है, जो पहलेसे थी। जो चीज बनायी जाती है, पैदा की जाती है, वह पहले नहीं होती, प्रत्युत बननेके बाद होती है। परमात्मतत्त्व पैदा नहीं किया जाता। वह कृतिसाध्य नहीं है। जो कृतिसाध्य नहीं है, उसमें कर्ता, कर्म, करण आदि कोई भी कारक लागू नहीं होता। करना सब प्रकृतिमें होता है—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३।२८), '**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्**' (गीता १४।१९), '**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' (गीता ५।९), '**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**' (गीता ३।२७)। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें क्रिया है नहीं, कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं, कभी हो सकती नहीं। वह परमात्मतत्त्व तो ज्यों-का-त्यों है। 'नहीं' की तरफ जो आकर्षण है, इसके सिवाय उसकी प्राप्तिमें कोई बाधा नहीं है। 'नहीं' को सत्ता भी आपने ही दी है। उसकी खुदकी सत्ता तो है ही नहीं। अपने बचपनको आपने छोड़ा है क्या ? किसीने छोड़ा हो तो बता दो कि किस तारीखको बचपन छोड़ा। बचपन तो अपने-आप छूट गया। यह असत् एक क्षणभर भी नहीं टिकता। इसके बदलनेकी गतिको देखा जाय तो इसको दो बार आप देख नहीं सकते। पहले जैसा देखा, दूसरी बार देखनेसे वह वैसा नहीं रहा, बदल गया। अब आपके ख्यालमें आये या न आये, यह बात अलग है।

जो वर्षमें बदलता है, वही महीनेमें बदलता है, वही दिनमें बदलता है, वही घंटेमें बदलता है, वही मिनटमें, सेकेंडमें बदलता है। सिवाय बदलनेके संसारमें और कुछ तत्त्व ही नहीं है—'**सम्यक् प्रकारेण सरति इति संसारः**', '**गच्छति इति जगत्।**' जो हरदम बदलता है, उसको तो आप स्थायी मानते हैं और जो कभी बदला नहीं, कभी बदलेगा नहीं, कभी बदल सकता नहीं, उसकी प्राप्तिको कठिन मानते हैं। जो निरन्तर रहता है, कभी बदलता नहीं, उसकी प्राप्ति कठिन है तो फिर सुगम क्या है ? वह तो स्वतः-स्वाभाविक है, सिर्फ उधर दृष्टि करनी है।

आप ध्यान दें, यह जो 'संसार है' ऐसा दीखता है, यह 'है' पना क्या संसारका है ? अगर संसारका है तो फिर बदलता क्या है ? सत्का तो अभाव होता नहीं और संसारका अभाव प्रत्यक्ष हो रहा है। अवस्थाका, परिस्थितिका, घटनाका, देशका, कालका, वस्तुका, व्यक्तिका—इन सबका परिवर्तन होता है—यह प्रत्यक्ष हमारे अनुभवकी बात है। स्थूल-से-स्थूल बात बतायें कि आप यहाँ नहीं आये तो भी प्रकाश वैसा ही था और आप आ गये तो भी प्रकाश वैसा ही है। आप आयें या चले जायँ, प्रकाशमें क्या फर्क पड़ता है ? ऐसे ही आप कभी दरिद्री हो जायँ, कभी धनी हो जायँ, कभी बीमार हो जायँ, कभी स्वस्थ हो जायँ, कभी आपका सम्मान हो जाय, कभी अपमान हो जाय, पर आपके होनेपनमें क्या फर्क पड़ता है ? आपका जो होनापन है, सत्ता-स्वरूप है, उसमें आप स्थित रहो—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४।२४)। तात्पर्य है कि आपकी सत्ता निरन्तर रहनेवाली है। अगर आपकी सत्ता नहीं रहेगी तो चौरासी लाख योनियाँ कौन भोगेगा, नरक कौन भोगेगा, स्वर्ग आदि लोकोंमें कौन जायगा ? आपकी सत्ता निरन्तर ज्यों-की-त्यों है। उसमें कोई परिवर्तन हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।

विचार करें, आपके होनेपनमें कौन-से करणकी सहायता है ? किस कारककी सहायतासे आपका होनापन है ? आपका होनापन करण-निरपेक्ष है। अपने होनेपनमें रहते हुए भी आप उससे चिपकते हैं, जो नहीं है। वास्तवमें उससे कभी चिपक सकते नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि असत्के साथ चिपक जाय, असत्के साथ रह जाय। कैसे रह जायगा ? असत् तो परिवर्तनशील है। पर मेहनत सब उसीके साथ चिपकनेकी होती है। कोरी फालतू मेहनत होती है। अपने होनेपनमें क्या फर्क पड़ता है ? क्रियाओं और पदार्थोंके परिवर्तनको अपनेमें मान लो तो आपकी मरजी है, होनेपनमें तो कोई परिवर्तन है नहीं। आने-जानेवालोंमें परिवर्तन है, प्रकाशमें परिवर्तन नहीं है। ऐसे जो सबका प्रकाशक है, स्वयंप्रकाश है, प्रकाशस्वरूप है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। जो है, उसमें 'नहीं'पना नहीं हो सकता और जो नहीं है, उसमें 'है' पना नहीं हो सकता— '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**'

(गीता २ । १६)। असत्‌की सत्ता नहीं होती और सत्‌का अभाव नहीं होता। सत् सदा ज्यों-का-त्यों, अटल, अखण्ड रहता है और उसमें सबकी स्थिति स्वतः है। परंतु जो मिटता है, उसमें आप स्थिति मान लेते हैं कि मैं धनी हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं नीरोग हूँ, मेरा सम्मान है, मेरा अपमान है। मिटनेवालेको आप पकड़ नहीं सकोगे, चाहे युग-युगान्तरोंतक मेहनत कर लो ! अपनी स्वतःसिद्ध सत्तामें स्थित हो जाओ तो गुणातीतके सब लक्षण आपमें आ जायँगे। वास्तवमें वे लक्षण आपमें हैं, पर बदलनेवालेके साथ मिल जानेसे उनका अनुभव नहीं हो रहा है।

श्रोता—महाराजजी ! क्रियाओंमें भी तो वही सत्ता है ?

स्वामीजी—क्रियाओंकी सत्ता है ही नहीं। क्रियाएँ तो आरम्भ होती हैं और नष्ट होती हैं। मैंने व्याख्यान शुरू किया और अब खत्म हो रहा है। क्रिया और पदार्थ सब खत्म होनेवाले हैं।

श्रोता—बिना सत्ताके क्रिया कैसे हुई ? सत्ता है, तभी तो क्रिया हुई ?

स्वामीजी—तो बस, सत्ता हुई मूलमें, क्रिया कहाँ हुई ? यही तो हम कहते हैं ! क्रियाका अभाव होता है। सत्ताका अभाव कभी होता ही नहीं। बिलकुल प्रत्यक्ष बात है। इसका कोई खण्डन कर सकता ही नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि इसका खण्डन कर दे। असत्‌की सत्ता भी सत्‌के अधीन है, सत्‌की सत्ता भी सत्‌के अधीन है। असत्‌की स्वतन्त्र सत्ता कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं, कभी हो सकती नहीं। इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित रहो, इधर-उधर चलो ही मत। **'समदुःखसुखः स्वस्थः'**—सुख-दुःख तो आते-जाते हैं, इसमें आप स्वतः ही सम हो। अगर आप सम नहीं हो तो यह सुख हुआ और यह दुःख हुआ—इन दोनोंका ज्ञान कैसे होता है ? सुख आता है तो आप सुखके साथ निरन्तर मिलकर सुखी हो जाते हो और दुःख आता है तो दुःखके साथ मिलकर दुःखी हो जाते हो। अगर आप सुखके साथ मिल ही जाते तो फिर दुःखके साथ नहीं मिल सकते और दुःखके साथ मिल जाते तो फिर सुखके साथ नहीं मिल सकते। अतः वास्तवमें आप सुख-दुःख दोनोंसे अलग हो, पर भूलसे अपनेको सुख-दुःखके साथ मिला हुआ मानकर सुखी-दुःखी हो जाते हो। सुख और दुःख तो बदलनेवाले हैं, पर आप न बदलनेवाले हो। आपके सामने कभी सुख आता है, कभी दुःख, कभी मान होता है, कभी अपमान; कभी आदर होता है, कभी निरादर; कभी विद्वत्ता आती है, कभी मूर्खता; कभी रोग आता है, कभी नीरोगता; पर आप वही रहते हो। अगर वही नहीं रहते तो इन सबका अलग-अलग अनुभव कैसे होता ? अगर अलग-अलग अनुभव होता है, तो फिर आपका अभाव कैसे हुआ ? सुख-दुःख आदिका अभाव हुआ। अतः कृपानाथ ! आप इतनी कृपा करो कि अपने होनेपनमें स्थित रहो। आपका होनापन स्वतःसिद्ध है, कृतिसाध्य नहीं है। उधर दृष्टि नहीं डाली, बस इतनी बात है।

श्रोता—महाराजजी ! अन्तःकरणमें राग-द्वेष रहते हुए ही क्रियाएँ होती हैं !

स्वामीजी—बिलकुल क्रियाएँ होती हैं राग-द्वेष रहते हुए; परंतु आपका कभी अभाव होता है क्या ? कितना ही राग-द्वेष हो जाय, कितना ही हर्ष-शोक हो जाय, आपमें कुछ फर्क पड़ता है क्या ?

श्रोता—फर्क न पड़नेपर भी साधकमें घबराहट रहती है कि राग-द्वेष तो हो रहे हैं !

स्वामीजी—आप राग-द्वेषको पकड़ लेते हो, बहते हुएको पकड़ लेते हो, तब घबराहट होती है। राग रहता नहीं, द्वेष रहता नहीं, वैर रहता नहीं, सुख रहता नहीं, दुःख रहता नहीं; जो रहता नहीं, उसको पकड़ लेते हो। आप उसको पकड़ो मत। आप तो वैसे-के-वैसे रहते हो। अगर वैसे नहीं रहते तो सुख और दुःखको, राग और द्वेषको आप अलग-अलग कैसे जानते हो। रागके समय रहते हो, वही द्वेषके समय रहते हो; द्वेषके समय रहते हो, वही रागके समय रहते हो, तब दोनोंका अनुभव होता है। जिसको दोनोंका अनुभव होता है, उसमें दोनों कहाँ हैं ?

यह एक वहम है कि अन्तःकरण शुद्ध होनेसे कर्ता शुद्ध हो जायगा। सभी कारक क्रियाके होते हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—ये सब क्रियाके हैं, प्रकृतिके हैं। यह प्रकृति जिससे प्रकाशित होती है, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः आप राग-द्वेषसे डरो मत। ये तो मिटनेवाले हैं, आने-जानेवाले हैं। असत् तो मिट रहा है।

किसीकी ताकत नहीं कि असत्‌को स्थिर रख सके और सत्‌का विनाश कर सके। असत् तो टिक नहीं सकता और सत् मिट नहीं सकता। असत्‌में किसीकी स्थिति हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती नहीं; एवं सत्‌से अलग कोई हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं।

श्रोता—असत्‌में स्थित होकर ही तो भोक्ता बनता है!

स्वामीजी—बिलकुल, इसमें कहना ही क्या है। वह असत्‌में स्थिति मान लेता है, स्थित होता नहीं। अगर आपकी स्थिति सत्‌में है तो फिर असत्‌में स्थिति कैसे हुई? अगर असत्‌में स्थिति है तो फिर सत्‌में स्थिति कैसे हुई? रागमें आपकी स्थिति है तो द्वेष कैसे हुआ? द्वेषमें आपकी स्थिति है तो राग कैसे हुआ? राग और द्वेष तो संसारके हैं, उसमें आप लिप्त हो जाते हो। आपमें न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है। बड़ी सीधी-सरल बात है, जिसमें कठिनताका नामोनिशान ही नहीं है!

श्रोता—फिर गड़बड़ी कहाँ है?

स्वामीजी—असत्‌को आप छोड़ना नहीं चाहते—यहाँ ही गड़बड़ी है! संयोगजन्य सुख आपने मान रखा है, यहाँ गड़बड़ी है।

श्रोता—असत्‌का त्याग कैसे हो?

स्वामीजी—अरे! असत्‌को आप पकड़ सकते ही नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि असत्‌को पकड़ ले। असत्‌का त्याग क्या करना है, त्याग तो अपने-आप हो रहा है!

सुख और दुःख, राग और द्वेष—दोनोंका जिसको अनुभव होता है, उसमें न सुख है, न दुःख है, न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है। जो इन सबसे रहित है, वह आपका स्वरूप है। जिसमें राग-द्वेष आदि होते हैं, वह आपका स्वरूप नहीं है। सीधी बात है! राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि जो दो चीजें हैं, वे आपमें नहीं हैं। वे बेचारी तो आपके सामने गुजरती हैं। कभी राग हो गया, कभी द्वेष हो गया, कभी हर्ष हो गया, कभी शोक हो गया, कभी निन्दा हो गयी, कभी प्रशंसा हो गयी। ये तो होनेवाले हैं और मिटनेवाले हैं। अब होनेवाले और मिटनेवालेको पकड़कर आप सुखी-दुःखी होते हैं! ये तो आपके सामने आते हैं, बीतते हैं, गुजरते हैं। आप ज्यों-के-त्यों रहते हो। आपमें फर्क पड़ता नहीं, आप बदलते नहीं। जो नहीं बदलता, वह आपका स्वरूप है और जो बदलता है, वह प्रकृतिका है। इतनी ही बात है, लम्बी-चौड़ी बात ही नहीं है। कृपानाथ! कृपा करो, आप अपने स्वरूपमें स्थित रहो। स्वरूपमें आपकी स्थिति स्वतः है। आगन्तुक सुख-दुःखमें, आगन्तुक राग-द्वेषमें आप अपनी स्थिति जबरदस्ती करते हो, और उसमें आपकी स्थिति कभी रह सकेगी नहीं। आप कितना ही उद्योग कर लो, न रागमें, न द्वेषमें, न सुखमें, न दुःखमें आपकी स्थिति रह सकेगी। कारण कि आप इनके साथ नहीं हो, ये आपके साथ नहीं हैं। आप कहते हैं कि मिटता नहीं, हम कहते हैं कि टिकता नहीं!

श्रोता—इनमें अपनी जो स्थिति मान रखी है, उस मान्यतासे छूटनेका साधन क्या है?

स्वामीजी—साधन यही है कि नहीं मानेंगे। जो भूलसे मान लिया, उसको नहीं मानना ही साधन है। कितनी सीधी-सरल बात है! कठिनताका नाम-निशान ही नहीं है। निर्माण करना हो, बनाना हो, उसमें कहीं कठिनता होती है, कहीं सुगमता होती है। जो ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, उसको जाननेमें क्या कठिनता है?

श्रोता—जिस समय राग-द्वेष आते हैं, उस समय तो प्रभावित हो जाते हैं!

स्वामीजी—तो प्रभावित होना आपकी गलती हुई, राग-द्वेषकी थोड़े ही गलती हुई! आप राग और द्वेष—दोनोंको जानते हो और दोनोंसे अलग हो। अब आप अलग होते हुए भी प्रभावित हो जाते हो, मिल जाते हो, तो यह गलती मत करो।

श्रोता—उसका असर पड़ता है!

स्वामीजी—आप उसको आदर देते हो तो असर पड़ता है। आदर दोगे तो असर पड़ेगा ही! ये तो आगन्तुक हैं। गीता साफ कह रही है—'**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व**' (२। १४) 'ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, इनको सह लो, विचलित मत होओ।' आप मुफ्तमें विचलित होते हो, पत्थर उछालकर सिर नीचे रखते हो! इसमें दूसरेका क्या दोष है?

श्रोता—यह सहना अभ्याससे आयेगा क्या?

स्वामीजी—आप सहते ही हो, नहीं तो आप क्या

करोगे ? सुख आ जाय, उस समय आप क्या करोगे ? दुःख आ जाय, उस समय आप क्या करोगे ? जबरदस्ती तो सहते ही हो, जानकर सह लो तो निहाल हो जाओ ! नहीं तो भोगना पड़ेगा ही। नहीं सहोगे तो कहाँ जाओगे ? चाहे सुख आये, चाहे दुःख आये, आप तो ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २। १५)

'हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस धीर मनुष्यको ये मात्रास्पर्श, पदार्थ व्यथा नहीं पहुँचाते, वह अमर हो जाता है।'

ये प्राकृत पदार्थ किसको व्यथा नहीं पहुँचाते ? जो सम रहता है, उसको। आप सम नहीं रहते तो कभी सुख पाते हो, कभी दुःख पाते हो। आपने मुफ्तमें बड़े परिश्रमसे बन्धनको पकड़ा है, पर वह टिकेगा नहीं, टिक सकता नहीं। परंतु आप नये-नये बन्धनको पकड़ते रहते हो। बचपन छूट गया तो जवानीको पकड़ लिया और जवानी छूट गयी तो वृद्धावस्थाको पकड़ लिया। आगन्तुकको पकड़कर मुफ्तमें दुःख पाते रहते हो। कृपा करो, आप अपने स्वरूपमें स्थित रहो।

श्रोता—महाराजजी ! तुलसीदासजीको जब शारीरिक कष्ट हुआ तो वे भी सम नहीं रह सके और उन्होंने हनुमानबाहुक लिखा, तो हमारी क्या ताकत है कि सम रह जायँ ?

स्वामीजी—वे सम नहीं हुए तो उनकी मरजी, आप क्यों विषम होते हैं ? गोस्वामीजी हों या दूसरा कोई हो, हम उनकी पंचायती करते ही नहीं; हम तो अपनी पंचायती करते हैं ! आप क्यों सुखी-दुःखी होते हो ? कहीं ऐसा लिखा है कि जो तुलसीदासजीमें नहीं हुआ, वह आपमें नहीं होगा ? तुलसीदासजीके छोरा-छोरी नहीं हुए, पर आपके हो गये ! तुलसीदासजीमें जो बीमारी नहीं आयी, वह आपमें आ गयी ! जो तुलसीदासजीमें नहीं आयीं, वे कई बातें आपमें आ गयीं ! आपमें जो बातें आयी हैं, वे सब तुलसीदासजीमें आयी थीं क्या ? जितनी आपपर बीती है, उतनी तुलसीदासजीपर बीती थी क्या ? फिर तुलसीदासजीको बीचमें क्यों लाते हो ?

मैं तो अपने अनुभवकी बात आपको कहता हूँ, न तुलसीदासजीकी बात कहता हूँ, न शंकराचार्य आदिकी बात कहता हूँ। आप अनुभव करके देखो। अगर आपको अनुभव करना है तो इधर-उधरकी बात मत करो। आपसे चर्चा करके मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि वास्तवमें अपने कल्याणकी इच्छा है ही नहीं। अपने कल्याणकी इच्छावाला दूसरी बात कर नहीं सकता। कल्याणकी सच्ची इच्छा हो तो सब सम्बन्ध तोड़कर भजनमें लग जाय। किसीसे न लेना है, न देना है, न आना है, न जाना है; किसीसे कोई मतलब नहीं। रोटी मिल जाय तो खा ली, और न मिले तो कोई परवाह नहीं—***'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये, सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।'*** यदि रोटी न मिलनेसे मर जाओगे तो क्या रोटी खाकर जीते रहोगे ? क्या रोटी खानेवाला कभी मरता नहीं ? समय आनेपर सबको मरना पड़ेगा ही। इसलिये कोई करे या न करे, हमें तो अपना कल्याण करना है।

कल्याण स्वतःसिद्ध है, बन्धन स्वतःसिद्ध नहीं है। बन्धन कृत्रिम है और आपका बनाया हुआ है। आप अपने-आपका अनुभव करो कि बालकपनसे आजतक आप वही हो कि दूसरे हो ? अवस्थाएँ बदलीं, देश बदला, काल बदला, परिस्थिति बदली, पर आप वही रहे। जो बदलता है, उसको ले-लेकर आप सुखी-दुःखी होते हो। आप अपने होनेपनमें स्थित रहो। जो बदलता है, उसमें क्यों स्थित होते हो ?

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

श्रोता—स्वामीजी ! अपने स्वरूपमें भी स्थित होना है और शरीरको चारा भी देना है……।

स्वामीजी—दोनोंमें अपने स्वरूपमें स्थित होना है। शरीरके पीछे क्यों पड़े हो ? वह तो नष्ट हो रहा है।

श्रोता—उसको चारा तो देना पड़ेगा महाराजजी !

स्वामीजी—चारा देनेके लिये कौन मना करता है ? कभी मना किया है मैंने स्वप्नमें भी ? पर अपनेको क्यों देना पड़ेगा, जिसको गरज है, वह दे या न दे। आप कहाँसे लाओगे देनेके लिये ? लोगोंका इधर-से-उधर दिया है और उधर-से-इधर लिया है, और आपने क्या किया है ? जो हैं, उन्हीं चीजोंमें उथल-पुथल किया है। चारा देना पड़े या न पड़े, कोई आवश्यकता नहीं आपको। जो जीवन्मुक्त महापुरुष होते

हैं, उनकी लोगोंको गरज हो तो वे उन्हें अन्न दें, वस्त्र दें, नहीं तो मरने दें ! उस महापुरुषको तो संसारसे कोई मतलब नहीं है, संसारसे कुछ लेना नहीं है, जिनको दूधकी गरज है, वे दूध देनेवाली गायका पालन अपने-आप करेंगे, ऐसे ही जिनको जीवन्मुक्त महापुरुषकी गरज है, वे उसका पालन अपने-आप करेंगे। नहीं करेंगे तो उसको लेना है ही नहीं। उसका तो काम बन गया है !

आवश्यकताके अनुसार अन्न लेना, जल लेना और सोना—इन तीन चीजोंके लिये मैं मना करता ही नहीं। भूख भी लगेगी, प्यास भी लगेगी, नींद भी आयेगी, ये तो आती रहेंगी, अपना क्या मतलब है इनसे ? जैसे कभी धूप आती है, कभी छाया आती है, कभी वर्षा आती है, कभी हवा चलती है, कभी ठंडी आती है, कभी गरमी आती है, ऐसे ही भूख भी लगती है, प्यास भी लगती है। कभी संयोग होता है,कभी वियोग होता है; यह तो होता ही रहता है। इसको क्या आदर दें ? हो गया तो क्या, नहीं हो गया तो क्या ? आप तो वैसे-के-वैसे ही रहे। प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है !

खान-पानमें संयम

(पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'कबिरा' क्षुधा है कूकरी करत भजनमें भंग।
याको टुकड़ा डारि के भजन करो निःशंक॥

'स्वादकी दृष्टिसे किसी भी चीजको चखना अस्वादव्रतका भंग करना है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें पता चलेगा कि जो अनेक चीजें हम खाते हैं, वे शरीर-रक्षाके लिये जरूरी न होनेसे त्याज्य ठहरती हैं।' (महात्मा गाँधी)

पवित्र जीवनके लिये खान-पानके संयमकी अत्यन्त आवश्यकता है। भोजन यदि जीवन-रक्षाके लिये किया जाय तो वह आनन्दप्रद होता है, अन्यथा उसके द्वारा अधिक-से-अधिक जितनी हानि हो सकती है, होती है। वास्तवमें हमें जीनेके लिये खाना चाहिये, न कि खानेके लिये जीना ! जो लोग खानेके लिये ही जीते हैं, वे अधम श्रेणीके मनुष्य हैं। जीवन-रक्षाके लिये जो भोजन करते हैं, वास्तवमें वे ही भोजनके वास्तविक उपयोगको जानते हैं। क्षुधाको शान्त करनेके लिये भूखभर ही जो भोजन किया जाता है, वही वास्तविक आनन्दप्रद भोजन होता है। आवश्यकतासे यदि एक कौर भी अधिक भोजन कर लिया जाय तो वह एक ग्रास ही भोजन करनेवालेके पतनका कारण होता है। भूखसे अधिक भोजन शरीरके लिये तो हानिकर होता ही है, आत्माके लिये भी उससे कम हानिकर नहीं होता। जहाँ भूखसे बहुत कम खाना त्यागका गलत आदर्श है, उसी प्रकार अधिक भोजन करना भी बहुत बड़ी भूल है। केवल इन्द्रियतृप्ति और स्वादके लिये जो भोजन किया जाता है, वह मनुष्यको स्पष्टरूपसे पतनके भीषण गड्ढेमें ले जाकर डाल देता है—इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। ऐसा भोजन हमें प्रभु-पथसे विमुख कर नरककी भीषण ज्वालाओंमें ले जाकर पटक देता है। अतः हमें केवल शुद्ध, सात्त्विक और स्वास्थ्यप्रद भोजन करना चाहिये और सो भी केवल उतना, जितना हमारी क्षुधा-शान्तिके लिये अनिवार्य हो। केवल वही भोजन हमें साधनपथपर आरूढ़ करा सकेगा।

संसारमें मदिरा, ताड़ी, चाय, काफी, कोको, भाँग, अफीम, चरस, गाँजा, तंबाकू, बीड़ी, सिगरेट, चुरुट आदि जितनी मादक वस्तुएँ हैं, वे सब मनुष्यमात्रके लिये अव्यवहार्य हैं। उनका उपयोग मनुष्यको साक्षात् नरककी ओर ले जानेवाला है। मनुष्यको राक्षस बनानेवाली तथा पतनके भीषण गर्तमें डुबानेवाली ऐसी वस्तुएँ साधकोंके लिये कितनी हानिप्रद हैं, यह सभी सोच सकते हैं। उन्हें तो इस प्रकारकी सारी वस्तुओंका सर्वथा त्याग कर देना पड़ेगा। बिना इनका त्याग किये साधनपथपर अग्रसर ही नहीं हुआ जा सकता। तंबाकू—जिसे कि दुर्भाग्यसे अधिकांश भारतवासी पीनेके अभ्यासी हैं—कितने पापकी जड़ है। पद्मपुराणमें तो यहाँतक कहा गया है कि—

धूम्रपानरते विप्रे दानं कुर्वन्ति ये नराः।
ते नरा नरकं यान्ति ब्राह्मणा ग्रामशूकराः॥

—'धूम्रपान करनेवाले ब्राह्मणको दानतक देनेवाला नरकका अधिकारी होता है और उन ब्राह्मणोंका तो कहा ही क्या जाय। ऐसे लोगोंको ग्रामशूकर बनकर विष्ठा-भोजन करना पड़ता है।'

अन्य मादक वस्तुओंका सेवन तो इससे भी अधिक पापका कारण है। आत्मिक पतन और शारीरिक हानि—सभी बातें इनके सेवनसे प्राप्त होती हैं। मादक वस्तुओंसे हानियाँ इस प्रकार हैं—

१-इनसे दुःख और क्लेश, घृणा और द्वेष, पाप और बेशर्मीका द्वार खुल जाता है। मनुष्यका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, उसमें मानवताके स्थानपर दानवता आ विराजती है, शक्ति घट जाती है, क्रोध बढ़ जाता है, आँखें लाल बनी रहती हैं, जीभ कटुभाषी हो जाती है !

२-काम-वासनाको इनसे खूब उत्तेजना मिलती है। शरीर भ्रष्ट और निरर्थक बन जाता है। उसमें बुरी-बुरी बीमारियाँ आकर डेरा जमा लेती हैं !

३-बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। मनुष्य वासनाओंका दास बन जाता है। उसकी अवस्था बिलकुल पागलोंकी-सी हो जाती है। उसका चरित्र, चाल-ढाल, बोल-चाल, व्यवहार-बर्ताव पशुओंसे भी गया-बीता हो जाता है

४-सारा संयम स्वाहा हो जाता है। सारे आवश्यक बन्धन टूट जाते हैं। किसी भी निन्द्य-से-निन्द्य कुकर्मके करनेमें उसे तनिक भी लज्जा नहीं आती। साधारण स्थितिमें मनुष्य जिन पापोंकी कल्पनातकसे घबड़ा उठता है, नशेकी अवस्थामें उसे अपनी इस पापभीरुतापर हँसी आती है और वह बिलकुल निधड़क होकर पापोंमें संलग्न हो जाता है, अपना सारा कर्तव्यकर्म भूल जाता है। उसका हृदय कमजोर हो जाता है तथा उसकी आत्मिक शक्तिका सर्वथा लोप हो जाता है।

५-ईश्वर और धर्म दोनों ऐसे व्यक्तिके उपहासके विषय बन जाते हैं। वह इनके सर्वथा प्रतिकूल हो जाता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि दो परस्परविरोधी बातें एक साथ कभी हो ही नहीं सकतीं। एक व्यक्ति एक ही साथ पाप भी करता जाय और पुण्य भी—ऐसा होना सर्वथा असम्भव है। ऐसा व्यक्ति तो केवल शैतानकी उपासना करता है। मन्दिरमें जाकर भी शराब पीनेकी आज्ञा माँगता है—सो भी भगवान्‌की सर्वव्यापकताकी दुहाई देकर! ऐसी उलटी बुद्धिको कोई क्या करे !

६-ऐसे व्यक्तिके जीवन-कर्मका सारा ढाँचा एकबारगी ही पलट जाता है। दिन-रात उसे पापकर्म ही सूझा करते हैं। हरदम शैतानियतका भूत ही उसके सिरपर सवार रहा करता है। प्रलोभन और दुर्बलताएँ सदैव ही उसे मनमानी रीतिसे नचाया करती हैं। इस प्रकार दिन-रात उसके पाप बढ़ते ही रहते हैं, घटनेका नाम नहीं लेते।

७-उसका आत्मा पतित और अधोमुखी हो जाता है, अतः वह सदैव दुष्कर्मों और पापोंके वशीभूत बना रहता है। वह अपनी सारी इच्छाशक्ति, बुद्धि, सामर्थ्य, साहस, पवित्रता आदिसे पूर्णरूपेण हाथ धो बैठता है। उसकी भला-बुरा सोचनेकी शक्ति मारी जाती है।

अतएव साधकोंको इस प्रकारके सारे व्यसन सर्वथा त्याग देने चाहिये, अन्यथा वे कभी भी अपने मनोरथमें सफल नहीं हो सकते।

मादक वस्तुओंका सेवन करनेवाले व्यक्तियोंको सभी सरलतासे पहचान सकते हैं। यह बीमारी सब बीमारियोंसे अधिक खतरनाक है। बीमारीसे तो केवल तन और धनकी हानि होती है, किंतु इस बीमारीसे तो मनुष्यकी सर्वोत्तम वस्तु—आत्माका अकल्याण होता है, मानसिक पतन होता है। ऐसे अभागोंके बाहरी व्यवहार ही इस प्रकारके होते हैं, जिन्हें देखकर प्रत्येक मनुष्य ऐसे पापपूर्ण मार्गसे सदैव बचे रहनेकी शिक्षा ले सकता है। ऐसे लोगोंके भद्दे-गंदे इशारे, लंबी-चौड़ी व्यर्थकी तमाम झूठी बातें, असभ्यतापूर्ण हास्य, बुद्धिशून्य गाली-गलौज, तमाम निस्सार और व्यर्थके पापपूर्ण कार्य, कुम्भकर्णी निद्रा, पागलोंका-सा प्रलाप, नालियों आदिमें गिरकर घंटों पड़े रहना, वमन, मल-मूत्रका बिना बिचारे यत्र-तत्र-सर्वत्र त्याग आदि देख-सुनकर भला किसे घृणा न आयेगी।

साधकोंके चरणोंमें निवेदन है कि यदि दुर्भाग्यसे वे ऐसे किसी भी व्यसनके शिकार बन गये हों तो उनका कर्तव्य है कि वे शीघ्र-से-शीघ्र अपनेको उसके पाशसे मुक्त करनेका प्रयत्न करें। केवल तभी ही वे अपने अभीष्टतक पहुँचनेमें सफल हो सकेंगे, अन्यथा नहीं।

खान-पानमें संयम पालनेके नियम

१-भूख लगनेपर ही भोजन करने बैठो। उसके पूर्व किसी भी दशामें नहीं। भूख न लगी होनेपर भोजन करना पाप है।

२-कभी भी जल्दी-जल्दी और अधीर होकर भोजन मत करो। धीरे-धीरे खूब चबा-चबाकर केवल भूख भर भोजन करो। गटर-गटर भोजन करना असभ्यताकी निशानी है। दूसरे जल्दी-जल्दी खानेमें भूखसे कुछ-न-कुछ अधिक भोजन स्वतः ही कर लिया जाता है—जो कि एक महान् घृणित पाप है।

३-भोजनमें तुनकमिजाजी कभी मत करो। जो भोजन सामने आये, उसमें मीन-मेष मत निकालो। जो रूखा-सूखा मिले, उसे भगवच्चरणोंमें निवेदित कर प्रभुका प्रसाद समझकर आनन्दपूर्वक ग्रहण करो।

४-भूखसे अधिक तो एक ग्रास भी मत खाओ। चाहे जितनी अच्छी-अच्छी भोजनकी वस्तुएँ सामने रखी हों, किंतु आवश्यकतासे अधिक एक भी वस्तु मत खाओ। स्वादिष्ट समझकर किसी भी वस्तुकी ओर नेत्रोंको चञ्चल मत करो। स्मरण रखो कि नेत्रोंकी चपलता और स्वादकी आकाङ्क्षा सर्वनाशका प्रवेशद्वार है।

५-जहाँतक हो सके, दावतोंसे बचो। दुष्ट मित्रोंकी सङ्गति तो सर्वथा ही त्याग दो। जहाँपर प्रलोभन तथा आकर्षक वस्तुएँ अधिक होती हैं, वहींपर पतनकी अधिक सम्भावना रहती है। मनचले दोस्तोंका साथ तो और भी सर्वनाशकी जड़ है। वे अपने मित्रोंको केवल उन्हीं स्थानोंपर लिवा ले जाया करते हैं, जहाँपर पतनके सामान बहुतायतसे इकट्ठे होते हैं। ऐसे स्थानोंपर पहुँचकर भोला-भाला व्यक्ति सहज ही आकर्षणोंके सम्मुख घुटने टेक देता है। किया क्या जाय, मानव-स्वभाव है ही ऐसा। ऐसे स्थानोंपर यदि विवेकसे काम न लिया जाय तो मनुष्यका फिसल पड़ना एक साधारण-सी बात है। प्रायः सभीको अपनी इस प्रकारकी दुर्बलताओंका पता रहता है, अतएव भूलकर भी ऐसे स्थानोंपर न जाना चाहिये जहाँपर जरा-सी भी ऐसी आशङ्का हो।

७-तुम अपने कल्याणके लिये जो सिद्धान्त निश्चित कर लो, उनके पालनमें कठोर-से-कठोर बन जाओ। यदि तुम उनका दृढ़तापूर्वक पालन नहीं करते तो यह स्पष्ट है कि तुम स्वयं अपने आदर्शतक नहीं पहुँचना चाहते। अतः कैसा भी अवसर आये, तुम अपने सिद्धान्तोंपर दृढ़ बने रहो। सिद्धान्त-पालनमें शिथिलता तुम्हारी निर्बलताहीकी द्योतक है, उसका परिणाम कितना भयङ्कर हो सकता है, यह तुम स्वयं ही सोच सकते हो।

सादा रहन-सहन और उच्च विचार—इस आदर्शको सदैव अपने सम्मुख रखकर जी-जानसे इसके पालनमें संलग्न रहो। आदर्शके पालनमें जो कष्ट और बाधाएँ आयें, उनका सहर्ष स्वागत करो, पर भूलकर भी अपने पथसे विचलित मत हो।

मांस, मदिरा, गाँजा, चरस, भाँग, अफीम, चंडू, मिर्च, खटाई, तंबाकू, बीड़ी, सिगरेट, चुरुट, सुल्फा आदि किसी भी हिंसात्मक और उत्तेजक पदार्थका भूलकर भी सेवन न करो। इससे शारीरिक स्वास्थ्य तो चौपट होता ही है, साथ-ही-साथ घोर आत्मिक पतन भी होता है।

खान-पानमें संयम पालनेवालेके लक्षण

१-वह सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन देखकर ललचाया नहीं करता।

२-वह केवल उतना भोजन करता है, जितनी उसे भूख होती है तथा जितना वह अपनी शरीर-रक्षाके लिये आवश्यक समझता है।

३-उसकी अच्छा और स्वादिष्ट भोजन पानेकी इच्छा सर्वथा नष्ट हो जाती है।

४-मादक और उत्तेजक पदार्थोंसे उसे पूर्णरूपेण घृणा हो जाती है।

५-उसे अच्छी और गम्भीर निद्रा आती है, प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उसकी नींद खुल जाती है। सोकर उठनेपर उसका हृदय खूब आनन्द और उत्साहसे भरा रहता है।

६-परिश्रम करनेमें उसका खूब मन लगा करता है।

७-उसका हृदय सदैव स्वर्गीय आनन्दसे परिपूर्ण रहता है, जिससे प्रभु-प्रार्थनामें उसे बड़ा सुख मिलता है।

८-वह प्रलोभनोंका दास नहीं रहता।

९-उसकी वासनाएँ उसे अधिक नहीं सतातीं तथा वह सहज ही उनपर विजय प्राप्त कर लेता है।

भागवतीय प्रवचन— ३७

देवहूति-कर्दम-चरित्र

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

मनु महाराजने अपनी कन्या देवहूतिका विवाह ऋषि कर्दमके साथ कर दिया और देवहूति कर्दमके आश्रममें पति-सेवामें रहने लगी। उसने सोचा कि मेरे पति तपस्वी हैं, अतः मुझे भी तपस्विनी होना होगा। वे दोनों बारह वर्ष एक घरमें रहते हुए भी संयमी और निर्विकार रहे।

संयमीको ही ज्ञान मिलता है। ज्ञान बाजारमें नहीं मिलता। पूर्ण संयमके बिना ज्ञान नहीं पाया जा सकता। पूर्ण संयमके बिना परमात्मा भी प्रकट नहीं होता। कर्दम जीवात्मा है और देवहूति बुद्धि है। देवहूति देवको बुलानेवाली निष्काम बुद्धि है। एक दिवस कर्दमने देखा कि देवहूतिका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है, उसने दीर्घकालतक मेरी सेवा करते-करते अपना शरीर सुखा दिया है—यह देखकर उनका हृदय भर आया। उन्होंने देवहूतिसे कहा—'देवि ! कुछ वरदान माँगो। तुम जो भी माँगोगी वही मैं दूँगा।'

देवहूतिने कहा—आप-जैसे ज्ञानी पति मुझे मिले हैं, मेरे लिये यही वरदान है। मैं तो पूजा करके बस इतना ही माँगती हूँ कि मेरा सौभाग्य अखण्डित रहे। स्त्रीका धर्म है कि वह प्रतिदिन तुलसी और पार्वतीकी पूजा करे, पति एवं गुरुजनोंकी सेवा करे।

यह सुनकर कर्दम बोले—'कुछ-न-कुछ तो तुम्हें माँगना ही होगा।'

पतिके आग्रह करनेपर देवहूतिने कहा कि 'आपने विवाहसे पूर्व यह प्रतिज्ञा की थी कि संतानके होनेपर आप संन्यास लेंगे। अब यदि इच्छा हो तो एक बालकका मुझे दान दें।'

मनुष्य-शरीरकी रचना ऐसी ही है कि वह भोगोंका मर्यादित परिमाणमें ही उपभोग कर सकता है। मर्यादाका उल्लङ्घन करेगा तो वह रोगी हो जायगा। कर्दम बोले—'मैं तुझे दिव्य शरीर अर्पित करूँगा।'

देवहूति सरस्वतीके किनारेपर स्नान करने गयी। सरस्वतीमेंसे अनेक दासियाँ निकलीं। देवहूतिने स्नान किया और उनका शरीर दिव्य सौन्दर्ययुक्त हो गया। कर्दम ऋषिने संकल्पके बलसे विमान बनाया और दोनों उसपर बैठ गये।

देवहूतिकी नौ कन्याएँ हुईं, किंतु पुत्र एक भी न हुआ। नौ कन्याओंका अर्थ है नवधा भक्ति। नवधा भक्तिके बिना ज्ञान नहीं होता।

नवधा भक्तिके न होनेतक कपिल अर्थात् ज्ञान नहीं आता। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये नौ अङ्ग नवधा भक्तिमें आते हैं। नवधा भक्तिके सिद्ध होनेपर ही कपिल भगवान् पधारते हैं। भक्ति ही ज्ञानरूपमें बदलती है। भक्तिकी उत्तरावस्था ही ज्ञान है। अपरोक्ष ज्ञानकी पूर्वावस्था ही भक्ति है। भक्तिके बाद ज्ञान आता है। ज्ञानकी माता भक्ति है। जिसकी नवधा भक्ति सिद्ध नहीं होती, उसे ज्ञान नहीं मिलता। भक्तिद्वारा ही ज्ञान मिलता है। **'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते।'** तात्त्विक दृष्टिसे अन्तमें ज्ञान और भक्तिमें अन्तर नहीं है। भक्तिमें पहले **'दासोऽहम्'** है और फिर **'सोऽहम्'** की भावना रहती है।

नौ कन्याओंके जन्मके बाद कर्दम संन्यास लेनेके लिये तैयार हुए। उन्होंने सोचा कि एकान्तमें बैठकर मैं तप करूँ। देवहूतिने कहा—'नाथ ! मैं भी त्याग करना चाहती हूँ, किंतु आपने तो वचन दिया था कि एक पुत्रके जन्मके बाद आप संन्यास लेंगे। पुत्रका जन्म तो अभीतक हो ही नहीं पाया है। फिर इन कन्याओंकी और मेरी देखभाल कौन करेगा ? इन कन्याओंकी व्यवस्था करनेके बाद ही संन्यास लीजिये।'

कर्दम-देवहूतिने विकारका त्याग किया। उन्होंने कई वर्षोंतक परमात्माकी आराधना की, इसके बाद देवहूतिके गर्भमें साक्षात् नारायणने वास किया। नौ मासका समय समाप्त हुआ। आचार्यों, योगियों और साधुओंके आचार्य प्रकट होनेवाले थे। ब्रह्मादि देव कर्दम ऋषिके आश्रममें आये। ब्रह्माजीने कर्दम ऋषिसे कहा कि 'तुम्हारा गृहस्थाश्रम सफल हुआ। तुम अब जगत्के पिता बन गये हो। यह बालक जगत्को दिव्य ज्ञानका उपदेश करेगा।'

जीव भगवान्के लिये जब आतुर होता है, तब

भगवान्‌का अवतार होता है। आतुरताके कारण भगवान्‌के दर्शन होते हैं।

कर्दम और देवहूतिकी तपश्चर्या और आतुरतासे भगवान् कपिल-रूपसे उनके यहाँ पुत्ररूपमें आये।

योगीजन योगसे ब्रह्माके दर्शन कर सकते हैं, किंतु संसारी लोग शुद्ध भक्तिसे भगवान्‌को पुत्ररूपसे प्राप्त कर सकते हैं और भगवान्‌का लालन-पालन कर सकते हैं।

कपिल भगवान्‌के जन्म लेनेपर देवहूतिने कर्दमसे कहा—'अब गृहस्थाश्रमका त्याग कर सकते हैं।'

कर्दम कहते हैं—मुझे नौ कन्याओंकी चिन्ता है। इसपर ब्रह्माजीने कहा—'तुम क्यों चिन्ता करते हो! तुम्हारे घर तो स्वयं भगवान् पधारे हैं। तुम चिन्ता करनेके बदले प्रभुका चिन्तन करो।'

वल्लभाचार्यजीने कहा है कि **'चिन्ता कापि न कार्या।'** सेवा-स्मरण करते हुए जो तन्मय होते हैं, उनकी चिन्ता ठाकुरजी करते हैं।

ब्रह्मा नौ ऋषियोंको अपने साथ लाये थे। अतः महर्षि कर्दमने सभी ऋषियोंको एक-एक कन्या दे डाली। अत्रिको अनसूया, वसिष्ठको अरुन्धती आदि। उन्होंने सोचा कि अब अपने सिरसे सारा भार उतर गया। वे कपिलके पास आये और कहने लगे कि मुझे संन्यास लेना है।

संन्यासका अर्थ है परमात्माके दर्शनके लिये सभी सुखोंका त्याग।

'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।'

केवल ईश्वरके लिये जो जीये, वही संन्यासी है।

कपिलने कहा कि आपकी इच्छा ठीक ही है। संन्यास लेनेके बाद आप किसी प्रकारकी चिन्ता न करें। आप अपना जीवन ईश्वरको अर्पित कर दें।

मुक्ति दो प्रकारकी है—

(१) कैवल्य-मुक्ति—इसमें जीव ईश्वरमें लीन होता है और दोनों एक बन जाते हैं।

(२) भागवती-मुक्ति—इसमें भी जीव ईश्वरसे प्रेमसे एक तो होता है, किंतु थोड़ा-सा द्वैत रखकर नित्यलीला, नित्यसेवामें मग्न रहता है। कर्दम ऋषिने संन्यास ग्रहण कर लिया।

परमात्माके लिये सभी संसार-सुखोंका त्याग ही संन्यास है। त्यागके बिना संन्यास उजागर नहीं होता। संन्यासकी विधि देखनेसे भी वैराग्य होता है। संन्यासकी क्रियामें विरजा होम करना पड़ता है। देव, ब्राह्मण, सूर्य, अग्नि आदिकी साक्षीमें विरजा होम किया जाता है।

आदिनारायणका चिन्तन करते-करते कर्दम ऋषिको भागवती मुक्ति मिली और भगवान् कपिलके सांख्य-योगोपदेशसे माता देवहूतिका जीवन सफल हुआ तथा संसारको भक्ति-ज्ञानका उपदेश प्राप्त हुआ।

गौमाताका अभिनन्दन

(श्रीजगदीशचन्द्रजी शर्मा, एम्० ए०, बी० एड्०)

गौमाताका अभिनन्दन है।
जीवन-पथमें उसे हमारा सादर श्रद्धासहित नमन है॥
हर गौमाता कामधेनु है, गौमाता है वही नन्दिनी,
वही जन्म-जन्मान्तरमें है सदा हमारे लिये वन्दिनी॥
गौमातासे जुड़े हुए हैं जीवनके संस्कार हमारे,
गौमाताने अनुकम्पा कर पापोंके अम्बार पखारे॥
गौमातामें कोटि-कोटि देवोंका रम्य निवास गहन है।
गौमाताका अभिनन्दन है॥

राम ते अधिक राम कर दासा

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी, साहित्यरत्न)

[गताङ्क पृ०-सं० ५९०से आगे]

मूलरूपमें भगवान्‌का अवतार ही साधुओं, भक्तोंके परित्राणके लिये होता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌को—

एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।

—कहा गया है। जैसे भक्त भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंकी भक्ति करते हैं। भगवद्भक्तोंको कष्ट देनेवाले दुष्टोंको तो भक्त स्वयं दण्ड देते ही नहीं, क्योंकि वे सम-चित्त होते हैं, उनका न कोई शत्रु होता है न मित्र। महात्मा श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।

भक्त पापोंका विनाश करते हैं, किंतु पापीका नहीं। पापीके विनाशके लिये प्रभुको ही धराधामपर आना पड़ता है। और भक्तोंकी रक्षामें जितनी कृपा प्रभुकी रहती है, उतनी ही कृपा दुष्टोंके नाशमें भी रहती है।

जैसे माता-पिता बालकपर समान स्नेह करते हैं, तथापि दोनोंके प्रेम-भावमें थोड़ा अन्तर होता है। माँ बच्चेका प्रिय एवं पिता बच्चेका हित करना चाहते हैं। जब बालक स्कूल जानेमें आलस्य करता है तो पिता उसे हठात् ही यहाँतक कि मार-पीटकर भी बालकके हितके लिये स्कूल भेजेगा। किंतु मारनेपर माँ स्वयं पिताको रोकती है कि रहने दो मारो मत और समझा-बुझाकर बालकको स्कूल भेजनेकी चेष्टा करती है। इसी प्रकार भगवान् पिताके समान और उदारमना संत माताके समान हैं। संत दुष्टोंको भी समझा-बुझाकर माताकी भाँति उनका सुधार एवं रक्षा करना चाहते हैं। इस कारण भगवान्‌की अपेक्षा भक्त अधिक कोमल होते हैं—

'संत हृदय नवनीत समाना।'
'संत उदय संतत सुखकारी।'
'कोमल चित दीनन्ह पर दाया॥'

भगवान् तो दुष्टोंके दमनके लिये कठोर बनते ही हैं।

वैसे तो भगवान्‌को भी कृपामात्रैकविग्रह कहा गया है—***'प्रभु मूरति कृपामई है'***, पर संतों तथा भक्तोंके हृदयको और अधिक कोमल कहा गया है। वे केवल अपने अनुग्रहसे ही काम लेते हैं और भगवान् शिष्योंके लिये सुकोमल तथा दुष्टोंके लिये कठोर होकर निग्रहानुग्रह दोनोंहीसे काम लेते हैं।

भक्तकी प्रतिज्ञा भगवान् स्वयं ही निभाते हैं—

प्रभु सत्य करी प्रह्लाद गिरा प्रगटे नर केहरि खंभ महा।

भीष्मजीने प्रतिज्ञा की कि आज मैं यदि भगवान् श्रीकृष्णको शस्त्र धारण न करा दूँ तो शन्तनु और गङ्गाका पुत्र नहीं—***'आज जौ हौं हरिहि न सस्त्र गहाऊँ।'***

और उनके युद्धसे परेशान होकर भगवान् श्रीकृष्णने चाबुक और सुदर्शनचक्र दोनों ग्रहण कर लिये। इस प्रकार महाभारत-युद्धमें कभी शस्त्र न ग्रहण करनेकी अपनी दृढ़ प्रतिज्ञाका परित्याग कर अपने भक्त भीष्मकी ही प्रतिज्ञाकी रक्षा की—

'निज पन तजि राखेउ पन मोरा।'

बालिके सामने भी अपनी प्रतिज्ञाको छोड़कर बालिको जिलानेके लिये तैयार हो गये—

'अचल करौं तनु राखहु प्राना।'

भक्तावलम्बसे प्रभुकी शोभा अत्यधिक बढ़ जाती है—

मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला। कनक तरुहि जनु भेंट तमाला॥

भक्तोंकी यहाँतक विशेषता एवं महत्ता कही गयी है कि भगवान् उनके ऋणीतक बननेको तैयार हो जाते हैं। भगवान् श्रीराम सीताका पता लगाकर लौटनेपर हनुमान्‌जीसे कहते हैं कि तुम्हारे उपकारोंसे मैं उऋण नहीं हो सकता—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥

भक्त बन्धनसे स्वयं मुक्त हो जाते हैं, किंतु लीला-नाट्यमें भक्त ही भगवान्‌को छुड़ाते हैं। हनुमान्‌जी मेघनादके पाशमें बँधे किंतु फिर छूट गये। भगवान् जब नागपाशमें मेघनादद्वारा बाँधे गये तो गरुडजीने ही उन्हें छुड़ाया—

खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ।

भगवान्‌का रहस्य भक्तोंसे छिपा नहीं रहता। महात्मा सूरदासजी प्रभु श्रीकृष्णकी प्रत्येक झाँकीका वर्णन किया करते थे। एक बार उनकी परीक्षाके लिये श्रीरंगजीके पुजारीजीने जहाँ

ये नित्य ही दर्शन करनेको जाते थे, ठाकुरजीके श्रीविग्रहपरसे सभी वस्त्र हटा लिये और फिर सूरदासजीने उस झाँकीका भी इस प्रकार वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया। इन्होंने जो वर्णन किया सभी चकित हो गये। पद इस प्रकार है—

देखो री हरि नंगम नंगा।
जलसुत भूषन अंग बिराजत बसन हीन छबि उठत तरंगा॥
अंग अंग में अमित माधुरी निरखि लजति रति कोटि अनंगा।
किलकत दधिसुत मुख लै मन भरि सूर हँसत ब्रज-जुवति न संगा॥

वास्तवमें सत्यता यह है कि—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

भगवद्वत्सलसे बली दासका महत्त्व जब प्रभु ही बढ़ाना चाहें तो फिर संसारमें उसे कौन रोक सकता है?

तभी शङ्कर भगवान् पार्वतीजीसे कहते हैं—देवि!

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

स्वयं प्रभु कहते हैं—'**विश्‍वेषु प्रियपात्रेषु न मे भक्तात्परः प्रियः॥**'

यह संक्षेपमें *'राम ते अधिक राम कर दासा'*—प्रसंगपर विवेचन किया गया। अब देखा जाय मानव-जीवनको इस प्रसंगसे क्या मिला? शङ्करजी स्वयं कहते हैं कि—

अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥

हमारे जीवनकी विडम्बना यही है कि नाशवान् संसार स्वप्नवत् है, अविनाशी भगवान् अपना है। संसार कभी पकड़ा नहीं जा सकता, परमात्मा कभी छोड़ा नहीं जा सकता। वह छूट नहीं सकता—'**हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**' अतः उसके भजनेमें ही सबका स्वार्थ-परमार्थ, लोक-परलोक सभी सुधर सकता है, किंतु हमें उसपर विश्वास नहीं। संसारपर तो है ही। उदाहरणार्थ घरपर ताला बंदकर द्वारपाल और कुत्तेके भरोसेपर चले जाते हैं, क्योंकि हम उनपर विश्वास करते हैं। करोड़ों रुपयेवाली दूकानकी चाभी मुनीम-मैनेजरके हाथ छोड़ देते हैं, उनपर विश्वास है। ड्राइवरके हाथ लाखोंकी गाड़ी एवं स्वयं सपरिवार बैठकर आत्मसमर्पण कर देते हैं, उसपर विश्वास है। रस्सीको पकड़कर कुएँमें उतर जाते हैं, जान जोखिममें डाल देते हैं, उसपर हमें विश्वास है। डॉक्टरसे उपचार कराते हैं, हमारी प्रिय खाद्य वस्तुओंको खानेके लिये वह मना कर देता है, हम मान जाते हैं, उसपर विश्वास है। पत्नी-पुत्रपर विश्वास करके उन्हें सर्वस्व दे देते हैं, उनपर विश्वास है। किंतु क्या कहें, द्वारपाल, कुत्ता, मुनीम, मैनेजर, ड्राइवर, पुत्र-पुत्री, डॉक्टर, रस्सीपर हमें विश्वास है, भगवान्‌पर विश्वास नहीं है—'**किमाश्चर्यमतः परम्।**'

यदि हमें विश्वास उनपर होता तो फिर उन्हें छोड़कर हम संसारकी ओर क्यों भागते! अबतक हमें संसारने क्या दिया? सिवा रोग, शोक, दुःख, तृष्णा, अशान्ति, अनर्थ, पापके और क्या मिला? परमात्मा तो हमारे योगक्षेमका सम्पूर्ण दायित्व लिये बैठे हैं। तभी तो उनका स्वयंका कथन है—

मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहा बिस्वासा॥

इसका भाव यह है कि एक ओर तो मनुष्य मेरा भक्त बनता है और दूसरी ओर वह संसारी जनोंकी भी आशा लगाये है, ऐसी स्थितिमें उसने मुझपर विश्वास कहाँ किया? क्योंकि यथार्थ स्थिति यह है कि भगवान् तो नित्य सत्य है और संसार तीनों कालमें असत्य है। इसीलिये सच्चा भक्त या संत या योगी उसे ही कहा गया है, जिसे संसारके समस्त विषयों और संसारी जनोंसे वैराग्य हो जाय। तभी पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है और मोह-अज्ञानके दूर होनेपर भगवान्‌की सच्ची भक्ति प्राप्त होती है, जो जीवनकी वास्तविक तथा सर्वोपरि उपलब्धि है।

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

वे मनुष्य धन्य हैं जो दयाशील हैं, क्योंकि परमपिताकी अपनी दयाके वे ही भागी हैं।—ईसा

जैसे वृक्षकी जड़को सींचनेसे उसकी सभी शाखाएँ और पत्ते आप-से-आप तृप्त हो जाते हैं, वैसे ही एक परमात्माकी भक्तिसे सारे देवी-देवता आप ही प्रसन्न हो जाते हैं।—निर्वाण-तन्त्र

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतोक्त प्रवृत्ति और आरम्भ

वर्णाश्रमाभ्यां नियतं हि कर्म कार्यं प्रवृत्तिः कथिता बुधैश्च।
कर्माणि भोगाय नवानि चैव कार्याणि चारम्भ उदीरितो वै॥

भगवान्ने रजोगुणकी वृद्धिके लक्षण बताते हुए 'प्रवृत्ति' और 'आरम्भ'—इन दोनोंका एक साथ प्रयोग किया है—**'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा'** (१४। १२)। यद्यपि स्थूलदृष्टिसे प्रवृत्ति और कर्मोंका आरम्भ—ये दोनों एक समान ही दीखते हैं, तथापि इन दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है। अपने-अपने वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिमें रहते हुए प्राप्त परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्य सामने आ जाय, उसको सुचारुरूपसे साङ्गोपाङ्ग कर देना 'प्रवृत्ति' है; और भोग तथा संग्रहको बढ़ानेके उद्देश्यसे नये-नये कर्म प्रारम्भ करना 'आरम्भ' है। अतः प्रवृत्तिको तो निष्कामभावसे निर्लिप्ततापूर्वक करना चाहिये, उसका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि निष्कामभावपूर्वक प्रवृत्ति करना योगारूढ़ होनेमें कारण है (६। ३); परंतु आरम्भका तो त्याग ही कर देना चाहिये; क्योंकि वह भोग और संग्रहकी आसक्ति बढ़ाकर पतन करनेवाला है।

गीता परिस्थितिका परिवर्तन करनेके लिये नहीं कहती, प्रत्युत उसका परिमार्जन करनेके लिये कहती है, जिससे मनुष्य किसी परिस्थितिमें फँसे भी नहीं और वह जिस परिस्थितिमें स्थित है, वही परिस्थिति उसके कल्याणका साधन बन जाय। उसको अपने कल्याणके लिये नये कर्मोंका आरम्भ न करना पड़े और वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिका परिवर्तन न करना पड़े। कारण कि परमात्मा सब वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति, घटना आदिमें पूर्णरूपसे व्याप्त हैं।

प्रवृत्ति (अपने कर्तव्यका पालन) तो सभी वर्ण-आश्रमोंमें होती है और होनी भी चाहिये; क्योंकि अपने-अपने कर्तव्यका पालन किये बिना सृष्टि-चक्रकी मर्यादा चलेगी ही नहीं और अपने कर्तव्यका त्याग करनेसे उद्धार नहीं होगा। अतः जो मनुष्य जिस-किसी वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिमें स्थित है, उसको निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन जरूर करना चाहिये।

प्रवृत्ति (अपने कर्तव्यका पालन) तो गुणातीत मनुष्यके द्वारा भी होती है (१४। २२), पर उसके द्वारा भोग और संग्रहके उद्देश्यसे कर्मोंका आरम्भ नहीं होता। कहीं-कहीं गुणातीत मनुष्यके द्वारा भी नये-नये कर्मोंका आरम्भ देखनेमें आता है; परंतु उन कर्मोंके आरम्भमें उसके किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होते। भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंका आरम्भ करनेवाले मनुष्य 'हमें तो परमात्मप्राप्ति ही करनी है'—ऐसा एक निश्चय कर ही नहीं सकते (२। ४४)।

तात्पर्य है कि अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार निष्कामभाव-पूर्वक की गयी प्रवृत्ति बाधक नहीं है, प्रत्युत मुक्तिमें हेतु है। ऐसे ही अपने स्वार्थ, अभिमान, कामना, आसक्तिका त्याग करके केवल प्राणिमात्रके हितके लिये किये गये नये-नये कर्मोंका आरम्भ भी बाधक नहीं है। परंतु इन आरम्भोंमें साधकको यह विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि कर्मोंका आरम्भ करते हुए कहीं हृदयमें पदार्थों और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित न हो जाय। अगर हृदयमें पदार्थों और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित हो जायगा तो उन कर्मोंमें साधककी निर्लिप्तता नहीं रहेगी अर्थात् वह साधक अपने पास रुपये-पैसे भी न रखता हो, पदार्थोंका संग्रह भी न करता हो, तो भी उसके हृदयमें धन, पदार्थ और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित हो ही जायगा; तथा कार्य करते हुए और न करते हुए भी उन कार्योंका चिन्तन हो ही जायगा।

भगवान्ने कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगी—तीनों ही साधकोंके लिये प्रवृत्ति-(कर्म-)से निर्लिप्त रहनेकी बात कही है। कर्मयोगी साधकमें फलासक्ति न होनेसे वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता—**'कुर्वन्नपि न लिप्यते'** (५। ७)। ज्ञानयोगी साधक 'सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके द्वारा ही हो रहे हैं'—ऐसा देखता है और स्वयंको अकर्ता अनुभव करता है (१३। २९)। इसलिये वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। भक्तियोगी साधक सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर देता है; अतः वह कर्म करता हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

भगवान्ने कर्मयोगमें कर्मोंके आरम्भमें कामनाओं और

संकल्पोंका त्याग तो बताया है, पर कर्मोंके आरम्भका त्याग नहीं बताया; क्योंकि कर्मयोगमें निष्कामभावसे कर्म करना आवश्यक है। कर्मोंको किये बिना कर्मयोगकी सिद्धि ही नहीं हो सकती (६।३)। परंतु ज्ञानयोग और भक्तियोगमें भगवान्ने सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्याग बताया है; जैसे—जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है, वह गुणातीत कहा जाता है (१४।२५); और जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है, वह भक्त मुझे प्रिय है (१२।१६)। कारण कि ज्ञानयोगी और भक्तियोगीकी सांसारिक कर्मोंसे उपरति रहती है।

दीपावली

(विद्याधुरीण पं॰ श्रीजौहरीलालजी शर्मा, सांख्य-योगाचार्य)

कार्तिक मासमें प्रातः-स्नान, अल्पभोजन, भगवद्भजन और दीपदानका विशेष माहात्म्य है। प्रातःस्नानके लिये विष्णुस्मृतिमें लिखा है—

तुलामकरमेषेषु प्रातःस्नानं विधीयते।
हविष्यं ब्रह्मचर्यं च महापातकनाशनम्॥

'कार्तिक, माघ और वैशाखके महीनोंमें प्रातःस्नान, हविष्यान्न—गेहूँ, जौ, चावल, तिल आदिका भोजन करने एवं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥

—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय, क्रियानिर्वृत्ति—इन आठ प्रकारके मैथुन-त्यागरूप ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे मनुष्यके बड़े-बड़े पातक नष्ट हो जाते हैं। आयुर्वेदशास्त्रमें कार्तिकके आठ दिन **'यमदंष्ट्रा'** नामसे कहे गये हैं, इनमें स्वल्पाहार करनेवाला सुखी रहता है—**'यमदंष्ट्राः समाख्याताः स्वल्पाहारः स जीवति।'** इस महीनेमें मधुसूदनभगवान्का तुलसी, केतकी, कमल तथा चमेलीके पुष्पोंके साथ पूजन करनेसे भक्तकी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। दीपदानके विषयमें पुष्करपुराणमें लिखा है—

तुलायां तिलतैलेन सायंकाले समागते।
आकाशदीपं यो दद्यान्मासमेकं हरिं प्रति॥
महतीं श्रियमाप्नोति रूपसौभाग्यसम्पदम्॥

'जो मनुष्य कार्तिकके महीनेमें संध्याके समय भगवान् हरिहर, धर्म, भूमि, यमराज, प्रजापति तथा पितरोंके नामसे तिलके तेलका आकाशदीप जलाता है, वह अतुल लक्ष्मी, रूप, सौभाग्य एवं सम्पत्ति पाता है।' कार्तिक कृष्ण अमावास्या तो, जो दीपमालिकाके नामसे जगत्प्रसिद्ध है, इस महीनेका एक विशिष्ट उत्सव है। नारदजीके वचनानुसार इस उत्सवको द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावास्या और प्रतिपदा—पाँच दिनतक लगातार मनाना चाहिये, जिसका क्रम इस प्रकार है—द्वादशीके दिन गोवत्सद्वादशीका उत्सव होता है। इसमें दूधवाली, बछड़ेसहित सुन्दर गौको स्नान कराकर झूल उढ़ावे, पुष्पमाला पहिनावे, सींग मँढ़ावे, चन्दन लगावे और ताम्रपात्रमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और तिलसहित जल डालकर इस मन्त्रसे गौके चरणोंमें अर्घ्य प्रदान करे—

क्षीरोदार्णवसम्भूते सुरासुरनमस्कृते।
सर्वदेवमये मातर्गृहाणार्घ्यं नमो नमः॥

'अमृतमन्थनके समय क्षीरसागरसे उत्पन्न हुई, देवताओं तथा असुरोंद्वारा नमस्कृत, सर्वदेवस्वरूपिणी माता! मेरे द्वारा दिये हुए इस अर्घ्यको स्वीकार करो। तुम्हें बार-बार नमस्कार है।'

अनन्तर गौको उड़दके बड़े खिलावे और इस प्रकार प्रार्थना करे—

सुरभि त्वं जगन्मातर्देवि विष्णुपदे स्थिता।
सर्वदेवमये ग्रासं मया दत्तमिमं ग्रस॥
ततः सर्वमये देवि सर्वदेवैरलङ्कृते।
मातर्ममाभिलषितं सफलं कुरु नन्दिनि॥

'हे कामधेनो! हे जगदम्बे! हे स्वर्गमें रहनेवाली देवि! हे सर्वदेवमयि! मेरे द्वारा अर्पित इस ग्रासका भक्षण करो। हे सर्वरूपिणी देवि! हे समस्त देवताओंके द्वारा अलङ्कृत माता नन्दिनी! मेरा मनोरथ पूर्ण करो।'

इसके उपरान्त रात्रिके समय विधिपूर्वक देवता, ब्राह्मण, गौ, घोड़े आदि पशु एवं ज्येष्ठ और श्रेष्ठ—बूढ़े-बड़े लोगों तथा दादी, माता, बूआ, मौसी आदि पूज्य स्त्रियोंका भलीभाँति

आदर-मानसहित नीराजन करे—आरती उतारे। दूसरे दिन अर्थात् कार्तिक कृष्ण, १३ को धनतेरस अथवा धन्वन्तरि-त्रयोदशी कहते हैं। इस दिन भगवान् धन्वन्तरिजीने दुखी जनोंके रोग-निवारणार्थ जन्म लेकर आयुर्वेदका उद्धार किया था। इसलिये उस दिन भगवान् धन्वन्तरिजीका जन्म-महोत्सव भलीभाँति मनाना चाहिये और संध्या-समय घरसे बाहर यमराजके नामसे निम्नलिखित मन्त्रका उच्चारण करके यमके लिये दीपदान करना चाहिये।

मृत्युना पाशदण्डाभ्यां कालेन श्यामया सह।
त्रयोदश्यां दीपदानात् सूर्यजः प्रीयतां मम॥

'त्रयोदशीके दिन दीपदानसे पाश और दण्ड लिये हुए मृत्यु-देवता, कालके अभिमानी देवता तथा देवी श्यामाके सहित भगवान् यम मुझपर प्रसन्न हों।'

इसके दूसरे दिन अर्थात् कार्तिक कृष्ण १४ को नरक-चतुर्दशीका उत्सव मनाया जाता है। इस दिन सूर्योदयसे पहले चन्द्रोदयके समय सुगन्धित तिलका तेल शरीरमें लगाकर ओंगा सिरपर घुमाते हुए ठंडे जलसे स्नान करना चाहिये, ऐसा करनेसे नरकका भय नहीं रहता। इस दिन तेलमें लक्ष्मीका और जलमें गङ्गाका निवास रहता है। साथ ही यम, धर्मराज आदि १४ नामोंसे तर्पण भी करना चाहिये। फिर प्रदोषके समय स्कन्दपुराणके वचनानुसार धर्मराजकी प्रीतिके निमित्त—

ततः प्रदोषसमये दीपान् दद्यान्मनोरमान्।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां भवनेषु मठेषु च॥

—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, भगवती, गणेश आदि देवताओंके मन्दिरोंमें तथा संन्यासी-महात्माओंके निवास-स्थानोंमें सुन्दर दीपोंका दान करना चाहिये। इसी तरह नरकके उद्देश्यसे एक चौमुखा दीपक पापोंकी निवृत्तिके लिये निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर जलाना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—

दत्तो दीपश्चतुर्दश्यां नरकप्रीतये मया।
चतुर्वर्तिसमायुक्तः सर्वपापापनुत्तये॥

'आज चतुर्दशीके दिन नरकासुरकी प्रीतिके लिये तथा समस्त पापोंके विनाशके लिये यह चार बत्तियोंका चौमुखा दीपक मेरे द्वारा अर्पित किया गया।'

अगले दिन कार्तिक कृष्ण ३०को दीपावलीका प्रसिद्ध महोत्सव मनाया जाता है। इसमें सर्वत्र दीपोंद्वारा देवताओं आदिका नीराजन किया जाता है। इसीलिये यह दीपावली, दीवाली, दीपमाला, दीपमालिका आदि नामोंसे विख्यात है। इस दिन भी चतुर्दशीकी तरह अरुणोदयकालमें मङ्गलस्नान करना चाहिये और संध्या, जप, हवन, स्वाध्याय, पितृतर्पण, देवपूजन आदि नित्य-कर्मसे निवृत्त हो हनुमत्पूजन एवं पितरोंकी तृप्तिके निमित्त श्राद्ध करना चाहिये और प्रदोषकालमें, पहलेहीसे लिपे-पुते मकानोंको पुष्पमाला, पताका, बंदनवार, आकाशदीपक एवं दीपवृक्ष आदिसे सजाकर, सुन्दर आसन बिछाकर, चौकी आदिपर श्रीनारायणसहित भगवती लक्ष्मीकी रत्नमयी, धातुमयी, पाषाणमयी, काष्ठमयी, लेप्या, लेख्या, मृण्मयी अथवा सिकतामयी (बालूसे निर्मित) मूर्तिका प्रधानरूपसे तथा गणेश, शिव, पार्वती, ब्रह्मा, सरस्वती, गङ्गा, हनुमान् आदि अन्य देवताओंका भी स्थापन करे। स्वयं भी स्वच्छ वस्त्र-आभूषण धारणकर घृत और तेलके अनेक दीपक जलावे और स्वस्तिवाचन कर वैदिक या तान्त्रिक मन्त्रोंसे विधिपूर्वक मनोनिग्रहके साथ स्थापित देवताओंका पूजन करे। पूजाविधि न जाननेवाले '**लक्ष्म्यै नमः**' इसी मन्त्रसे पूजन करें। इसके पश्चात् भगवती लक्ष्मीकी प्रसन्नताके लिये गोपाल-सहस्रनाम, लक्ष्मीस्तोत्र एवं '**हिरण्यवर्णां हरिणीम्**०' इस वैदिक श्रीसूक्तका पाठ और हवन करें। इसी प्रकार अर्धरात्रि-पर्यन्त पूजा करते रहें। अर्धरात्रिके समय भगवती लक्ष्मी प्रत्येक गृहमें आकर भक्तोंको वर देती और वहाँ निवास करती हैं। फिर चौथे पहरमें स्त्रियाँ सूप बजाकर घरमेंसे 'जाओ दारिद्र्य, आओ लक्ष्मी' कहती हुई अलक्ष्मी अर्थात् दरिद्रता-को निकालें। पाँचवें दिन कार्तिक शुक्ला प्रतिपदाको गोक्रीडामें गौओंको अच्छी तरह सजाकर, पूजा कर, भक्ष्यादि दे यों प्रार्थना करें—

लक्ष्मीर्या लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता।
घृतं वहति यज्ञार्थे मम पापं व्यपोहतु॥

'धेनुरूपसे स्थित जो साक्षात् लोकपालोंकी लक्ष्मी है तथा जो यज्ञके लिये घी देती है, वह गौमाता मेरे पापोंका नाश करे।' और भगवान्का पूजन कर अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य आदि पदार्थोंका भोग लगाकर अन्नकूट नामका उत्सव करे एवं रात्रिके समय बुभुक्षितोंको विविध

दानादि देकर, गन्धाक्षत-पुष्पादिसे पूजा कर, राजा बलिको प्रसन्न करे। पूजनका मन्त्र यह है—

बलिराज नमस्तुभ्यं दैत्यदानववन्दित।
इन्द्रशत्रोऽमराराते विष्णुसांनिध्यदो भव॥

'हे दैत्यों एवं दानवोंद्वारा वन्दित, इन्द्रशत्रु, देवताओंका विरोध करनेवाले राजा बलि! तुम्हें नमस्कार है। अपने ही समान तुम मुझे भी भगवान् विष्णुका सांनिध्य (उनके समीप निवास) प्रदान करो।' ऐसा करनेसे विष्णु भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसी रात्रिमें गोबरका सुन्दर गोवर्धन-पर्वत बना, दीपदान कर, उसमें श्रीभगवान्का षोडशोपचार अथवा पञ्चोपचार (गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य) से पूजन कर इस प्रकार प्रार्थना करे—

गोवर्धनधराधार गोकुलत्राणकारण।
बहुबाहुकृतच्छाय गवां कोटिप्रदो भव॥

'हे गोवर्धन पर्वतको उठानेवाले! हे गोकुलको उबारनेवाले तथा अनेक भुजाओंसे छाया करनेवाले प्रभो! हमें करोड़ों गायें प्रदान कीजिये।' यों पाँच दिनका यह दीपमालिकोत्सव सम्पन्न होता है। यहाँ प्रसङ्गसे यमद्वितीया—भैयादोजका भी कुछ वर्णन कर देना उचित जँचता है।

यह तिथि प्रतिपद्युक्त मध्याह्नमें मानी जाती है।

पूर्वकालमें यमुनाजीने अपने भाई यमराजको इस दिन अपने घर बुलाकर प्रीति और आदरके साथ भोजन कराया था। तभीसे यह तिथि यमद्वितीया नामसे प्रसिद्ध हो गयी है *। इस दिन पुरुषोंको अपने घर भोजन न कर प्रेमपूर्वक बहिनके हाथका बना हुआ भोजन करना चाहिये। उस दिन यदि यमुनास्नान मिल जाय तो सोनेमें सुगन्धका योग हो जाता है। बहिन भाईको भोजन करानेसे पहले इस मन्त्रका उच्चारण करे—

एह्येहि मार्तण्डज पाशहस्त
यमान्तकालोकधरामरेश।
भ्रातृद्वितीयाकृतदेवपूजां
गृहाण चार्घ्यं भगवन् नमस्ते॥

भ्रातस्तवानुजाताहं भुङ्क्ष्व भक्तमिदं शुभम्।
प्रीतये यमराजस्य यमुनायां विशेषतः॥

'हे सूर्यपुत्र! हे पाश धारण करनेवाले! हे यम! हे काल! हे प्रकाशको धारण करनेवाले देवताओंके स्वामी! भ्रातृद्वितीयाको की हुई मेरी देवपूजा तथा अर्घ्यदान स्वीकार करें। हे भगवन्! आपको मेरा नमस्कार है। हे भाई! हे कल्याणरूप! मैं तुम्हारी छोटी बहिन हूँ, यमराजकी प्रसन्नताके लिये विशेषकर यमुनातटपर तुम मेरेद्वारा अर्पित इस अन्नको स्वीकार करो।' भोजन करके भाई भी बहिनोंका यथाशक्ति उत्तमोत्तम वस्त्र, अलङ्कार, भोजन-सामग्री आदि देकर उचित सम्मान करे। सगी बहिन न हो तो मौसी, बुआ अथवा मामाकी लड़की या अन्य रिश्तेकी बहिनके हाथका भोजन करे। इस प्रकार भोजन करानेसे भाईकी उम्र बढ़ती है एवं उसको धन, धान्य और सुख-सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है तथा बहिनको भी पुत्रप्राप्ति आदि सब सुखोंका लाभ होता है, पतिकी आयुवृद्धि होती है।

हिंदूमात्रका परम कर्तव्य है कि श्रद्धा और भक्तिसे इस धार्मिक उत्सवको मनावें। उत्सव ही किसी जाति या राष्ट्रकी सौभाग्यलक्ष्मीका सूचक है। प्राचीन कालमें जब यह त्योहार प्रेम और उत्साहसे मनाया जाता था, तब भारतवर्ष उन्नतिके शिखरपर आसीन था। भगवती लक्ष्मी पूजासे प्रसन्न हो यहाँपर निरन्तर निवास करती थीं। इन्द्रदेव समयपर वर्षा करते थे। रत्नगर्भा वसुन्धरा अनेक रत्न, सुवर्णादि धातु एवं जौ, चावल, गेहूँ आदि विविध धान्य और ओषधियाँ उत्पन्न करती थी। गोमाताएँ हृष्ट-पुष्ट हो दूध, दही, घृतकी नदियाँ बहाती थीं। ब्राह्मणादि चारों वर्ण निज-निज धर्मका पालन करते हुए तथा संगठनके साथ प्रेमसे रहते हुए चौदह विद्याओं एवं चौंसठ कलाओंमें निपुणता प्राप्त कर, ब्रह्मचिन्तनमें तत्पर रह इस लोकमें अभ्युदय और परलोकमें निःश्रेयसकी प्राप्ति करते थे। ऐहिक और पारलौकिक निःश्रेयसकी प्राप्ति करना ही मनुष्यका परम ध्येय है।

---

* कार्तिके शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां युधिष्ठिर। यमो यमुनया पूर्वं भोजितः स्वगृहेऽर्चितः॥

देवताओंकी माता अदिति

वेदोंमें देवताओंकी माताके रूपमें देवमाता अदितिका स्थान सर्वोच्च है। मूर्त-स्वरूपवाली देवियोंमें उनकी समानता करनेवाली अन्य कोई देवी नहीं है, वे निर्द्वन्द्व एवं निर्विरोध-रूपसे विश्वकी सर्वोच्च शक्तिशालिनी, सर्वोपरि सुन्दरी देवी हैं। ऋग्वेदमें उन्हें पुत्रदा, अनर्वा, अतुलनीय आदि विशेषणोंसे विभूषित किया गया है। देवमाता अदितिको सर्वाधिक वैभवशाली एवं विस्तृत प्रासादोंकी सम्राज्ञी भी कहा गया है। वे अत्यन्त भव्य, दीप्तिमती, अद्वितीय सुन्दरी होनेके साथ-साथ सम्पूर्ण प्राणियोंकी सहायिका एवं हितैषिणी भी हैं (१।१३६।१)। देवमाता अदिति देवी मित्र, वरुण, अर्यमा, पूषा आदि द्वादश आदित्योंकी तथा इन्द्र, उपेन्द्र आदि विशिष्ट देवताओंकी भी जननी कही जाती हैं। इसलिये उन्हें सभी देवताओं एवं राजा-महाराजाओंकी माता भी कहा गया है। अदिति देवी द्यौ एवं पृथ्वीकी भी माता हैं। याज्ञिकोंद्वारा उनकी प्रातः, मध्याह्न एवं संध्या—इन तीनों कालोंमें भव्य स्तुतियाँ की जाती हैं।

ऋग्वेद (८।९०।१३) में अदितिको रुद्रोंकी भी माता कहे जानेकी बात आती है। उन्हें 'पृथ्वी' या 'गौ' रूपमें भी दिखाया गया है (८।९०।१५)।

शुक्ल यजुर्वेद (२१।५) तथा अथर्ववेद (७।६।२) में अदितिदेवीको श्रद्धालु भक्तोंकी माता, ऋतकी पत्नी एवं अपार शक्तिशालिनी कहकर स्तुति की गयी है। इसीके अनुसार ये अविनाशिनी, द्यावा-पृथ्वीमें व्याप्त, सबकी संरक्षिका तथा अत्यन्त चातुर्य एवं बुद्धिमत्तासे सबका मार्ग-दर्शन करनेवाली हैं।

इन सभी तथ्योंसे देवमाता अदितिकी विश्वमातृत्व-शक्तिके रूपमें अभिव्यक्ति या मातृत्वकी मूर्ति माना जाना सिद्ध होता है। लौकिक कामनाओंके निमित्त भी उनकी आराधना एवं उपासना वेदविहित है। इनकी उपासनासे वन्ध्या स्त्री एवं पुत्रहीन पुरुषोंको शीघ्र संतान-प्राप्ति होती है।

यजुर्वेद (अ० २५, मन्त्र २३) में भगवती अदितिको ही द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जगत्की माता, जगत्का पिता, देवता, असुर, मनुष्य एवं विश्वकी समस्त वस्तुजाति—प्राणी-पदार्थके रूपमें सर्वत्र व्याप्त कहकर स्तुति की गयी है। ब्रह्मासे लेकर स्तम्बरूप लघु तृणतक सभी प्राणियोंके रूपमें माता अदितिकी अभिव्यक्ति सर्वथा आश्चर्यकी वस्तु है।

निरुक्त (१।१६।२) में यास्क, स्कन्दस्वामी एवं आचार्य दुर्गके अनुसार अदिति अदीना, सर्वसमृद्धिशालिनी देवी हैं। निरुक्त (२।१३।१) के अनुसार 'अदिति' शब्द वाणीका वाचक है। निरुक्त-सम्प्रदायानुसार अदीनता आदि गुणोंसे युक्त लक्ष्मी, पृथ्वी, गौ आदिके भी द्युतिशालिनी, समृद्धिशालिनी देवी अदिति हो सकती हैं। अध्यात्मवादियोंके अनुसार प्रकृति ही अदिति हैं।

बृहद्देवता (अध्याय १, प्रकरण २२) में निरुक्त-निघण्टुप्रोक्त अन्तरिक्ष या मध्यस्थानके स्वामी इन्द्रसे सम्बद्ध देव-समूहोंके वर्णनमें अदितिको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होनेका उल्लेख है। इन्द्रके आश्रित देवताओंमें पर्जन्य, रुद्र, वरुण, वायु, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, वास्तोष्पति, क्षेत्रपति, सुनीति एवं अदिति—ये मुख्य देव-देवियाँ निर्दिष्ट हैं। इसके साथ ही सीता, लाक्षा, गौ, गौरी, इन्द्राणी आदि भी इन्हींकी कोटिमें परिगणित हैं। ऐसा बृहद्देवताकार आचार्य शौनकका मत है।

रामायण, महाभारत तथा पुराणोंमें देवमाता अदितिके अत्यन्त विचित्र चरित्र प्राप्त होते हैं। इतिहास-पुराणों विशेषकर विष्णुपुराण (१।१५।१२६), ब्रह्माण्डपुराण (२।३३।१७, ३।३।५६, १।१७) आदिके अनुसार ये दक्ष प्रजापतिकी पुत्री कही गयी हैं। उन्होंने इनका विवाह मरीचिके पुत्र कश्यपजीसे किया। इनके गर्भसे तैंतीस देवताओंकी उत्पत्ति बतलायी गयी है।

अदितिके गर्भसे आदित्यका प्रादुर्भाव

महाभारतके शान्तिपर्वके ३४२वें अध्यायमें भगवान् सूर्यके अदितिके गर्भसे उत्पन्न होनेकी विचित्र कथा प्राप्त होती है। उसमें कहा गया है कि अदितिके गर्भसे एक दिव्य अण्डा उत्पन्न हुआ, किंतु वह बहुत दिनोंतक वैसा ही ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा। अदितिको यह भान होने लगा कि यह अण्डा व्यर्थ है और इसमें रहनेवाला भीतरका शिशु मर चुका है। बारह वर्षतक प्रतीक्षा करनेके पश्चात् उन्होंने उसे मरा हुआ समझकर फोड़कर फेंकना चाहा, किंतु उससे सूर्य प्रकट हुए और अण्डेको फोड़नेसे उत्पन्न होनेके कारण उनका नाम मार्तण्ड पड़ा।

मार्कण्डेयपुराणके ११५वें अध्यायमें यह कथा कुछ भिन्न-रूपसे आयी है। उसमें अदितिको महर्षि कश्यपकी तेरह पत्नियोंमें सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। अदितिके सभी पुत्र देवता थे। एक बार दानवोंने उन्हें पराजित कर स्वर्गपर अधिकार जमा लिया। दानव-दैत्य कश्यपकी दूसरी पत्नी दनु और दितिके पुत्र थे। दैत्य-दानवोंद्वारा अपने पुत्रोंको पराजित तथा राज्याधिकारसे च्युत और सुख-सम्पत्तिविहीन इधर-उधर निराश्रित घूमते देखकर देवताओंके दुःखसे दुःखी अदिति अत्यन्त शोकग्रस्त हो गयीं। उन्होंने विश्वके उत्पादक, प्रकाशक, रात्रि-दिनके निर्माता आकाशस्थित सूर्यकी आराधना प्रारम्भ कर दी। एक दिन भगवान् सूर्य आकाशमें उनके सामने आकर प्रकट हो गये। उस तेजःसम्पन्न दिव्य ज्योतिःपुञ्जको देखकर वे भयभीत हो गयीं। उन्होंने कहा—'भगवन्! मुझपर कृपा करें, जिससे मैं आपके रूपको देख सकूँ।' अदितिकी प्रार्थनापर भगवान् सूर्य उस तेजसे बाहर निकलकर देवरूपमें उनके सामने खड़े हो गये। अदितिदेवी उनके पैरोंपर गिर पड़ीं। भगवान् सूर्यने कहा कि 'देवि! तुम्हारी जो भी इच्छा हो, वर माँग लो।' देवीने कहा—दानव-दैत्योंने मेरे पुत्रोंको परास्तकर उनका राज्य-वैभव और यज्ञभाग अपहृत कर लिया है। आप उन्हें प्राप्त करनेके लिये अपने अंशसे मेरे गर्भद्वारा देवताओंके बन्धुरूपमें प्रकट होकर उनके शत्रुओंका नाश करें और मेरे पुत्र पुनः यज्ञभागको प्राप्तकर स्वर्ग और त्रिलोकीके स्वामी बन जायँ।' इसपर भगवान् सूर्यने कहा—'मैं अपने सहस्र अंशोंसहित तुम्हारे गर्भसे उत्पन्न होकर देव-शत्रुओंका संहार करूँगा।' भगवान् सूर्यकी उक्ति सुनकर अदिति तपस्यासे निवृत्त हो गयीं और सूर्यकी सुषुम्ना नामवाली किरण जिसमें सहस्रों किरणोंका समुदाय निहित रहता है, देवमाता अदितिके गर्भमें प्रविष्ट हुई। जब अदितिको इसका भान हुआ कि 'सूर्य मेरे गर्भमें हैं, तब वे कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतोंका पालन करने लगीं और पवित्र भावोंसे उस गर्भको धारण किये रहीं। इस प्रकार अनेक वर्ष बीत गये।

कुछ समय बाद भगवान् सूर्य उस अण्डाकार-गर्भसे प्रकट हुए। उनके शरीरकी कान्ति कमलपत्रके समान अंदरसे श्याम किंतु बाहरसे अपार तेजपूर्ण थी, जिससे दसों दिशाएँ प्रकाशित और चमत्कृत हो रही थीं, फिर मेघतुल्य गम्भीर वाणीसे महर्षि कश्यपको सम्बोधित करती हुई सहसा आकाशसे यह वाणी प्रादुर्भूत हुई कि 'महर्षे! आपका यह पुत्र मार्तण्ड नामसे विख्यात होगा और अत्यन्त शक्तिशाली होकर सूर्यके अधिकारका ही पालन करेगा तथा देवताओंके यज्ञभागका अपहरण करनेवाले दैत्य-दानवों और असुरोंका संहार करके उनकी समृद्धि और यज्ञभागको भी वापस करेगा।'

इस आकाशवाणीको सुनकर महर्षि कश्यप, देवमाता अदिति और सभी देवगण बहुत प्रसन्न हुए। दैत्य तथा दानव हतोत्साह एवं बलहीन हो गये और उनके तेजसे सभी दैत्य-दानव जलकर भस्म हो गये। अब तो देवताओंके हर्षकी सीमा न रही और देवमाता अदिति भी सर्वथा संतुष्ट तथा कृतकृत्य हो गयीं। सभी देवगण भगवान् सूर्यके साथ अदितिकी स्तुति करने लगे। देवताओंको यज्ञभाग पुनः प्राप्त हो गये और उनकी सारी समृद्धि पुनः लौट आयी। इधर भगवान् सूर्य भी आकाशमें स्थित होकर अपनी मर्यादाका पालन करने लगे।

इस तरह अदितिके पुत्रोंमें जैसे सूर्य महाप्रकाशके पुञ्ज, प्रातः, मध्याह्न, सायं, रात्रि आदिके निर्माता, ऊष्मा, प्रकाश, वृष्टि, वृक्ष, शस्य आदिकी सृष्टि करनेवाले, फल एवं ओषधियोंको पकानेवाले, स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके प्राणरूप दिन, रात, मास, ऋतु, संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, युग, मन्वन्तर आदि महाकालचक्रके कारण हैं, वैसे ही अदितिके दूसरे पुत्र इन्द्र भी देवताओंके राजा बल-वृत्र आदि दैत्योंके संहारक, वर्षा एवं मेघोंके स्वामी-रूपमें प्रसिद्ध हैं। विष्णु, वरुण, अर्यमा, भग, पूषा, उपेन्द्र आदि भी उनके पुत्र हैं, जो दिव्य शक्तिसम्पन्न हैं। इसलिये देवमाता अदिति इन्द्र और विष्णुकी माता होनेके कारण सर्वत्र प्रथम पूज्य हुई हैं और वेदोंमें इन्हें द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, पृथ्वीस्वरूपा और सम्पूर्ण लोकोंकी माता, महालक्ष्मी, प्रकाशमयी देवी, सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त, सम्पूर्ण विश्वकी निर्मात्री, जगद्धात्री, सम्पूर्ण देवमयी कहा गया है। यहाँतक कि विश्वमें जो कुछ भी प्राणी-पदार्थ वस्तुजात दृष्टिगोचर होता है वह भी वही हैं। तात्पर्य यह कि इस सम्पूर्ण जगत्की आत्मा भी भगवती अदिति ही हैं।

(क्रमशः)

अमृत-बिन्दु

सांसारिक सुखकी इच्छाका त्याग कभी-न-कभी तो करना ही पड़ेगा, फिर देरी क्यों?

भगवान्‌को याद रखना और सेवा करना—इन दो बातोंसे ही मनुष्यता सिद्ध होती है।

परमार्थ नहीं बिगड़ा है, प्रत्युत व्यवहार बिगड़ा है; अतः व्यवहारको ठीक करना है। व्यवहार ठीक होगा स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंकी सेवा करनेसे।

जहाँतक बने, दूसरोंकी आशापूर्तिका उद्योग करो, पर दूसरोंसे आशा मत रखो।

दूसरोंके हितका भाव रखनेवाला जहाँ भी रहेगा, वहीं भगवान्‌को प्राप्त कर लेगा।

नामजपमें प्रगति होनेकी पहचान यह है कि नामजप छूटे नहीं।

ठगनेमें दोष है, ठगे जानेमें दोष नहीं है।

जैसी परिस्थिति आये, उसीमें साधन करना है। अनुकूलता देखोगे तो साधन नहीं होगा।

जिसका स्वभाव सुधर जायगा, उसके लिये दुनिया सुधर जायगी।

संसारसे सम्बन्ध जोड़नेका नाम 'भोग' है और सम्बन्ध तोड़नेका नाम 'योग' है।

भगवान्‌के सम्मुख होनेके लिये संसारसे विमुख होना है और संसारसे विमुख होनेके लिये निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करनी है।

हमसे अलग वही होगा, जो सदासे ही अलग है और मिलेगा वही, जो सदासे ही मिला हुआ है।

हमें अपने लिये कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि स्वरूपमें अभाव नहीं है और शरीरको जो चाहिये, वह प्रारब्धके अनुसार पहलेसे निश्चित है, फिर चिन्ता किस बातकी?

भगवान्‌के सिवाय कोई मेरा नहीं है—यह असली भक्ति है।

लेकर दान देनेकी अपेक्षा न लेना ही बढ़िया है।

भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध स्वतःस्वाभाविक है। इस सम्बन्धके लिये किसी बल, योग्यता, दूसरेकी सहायता आदिकी जरूरत नहीं है।

दूसरेकी प्रसन्नतासे मिली हुई वस्तु दूधके समान है, माँगकर ली हुई वस्तु पानीके समान है और दूसरेका दिल दुखाकर ली हुई वस्तु रक्तके समान है।

नामजपमें रुचि नामजप करनेसे ही होती है।

केवल सेवा करनेके लिये ही दूसरोंसे सम्बन्ध रखो। लेनेके लिये सम्बन्ध रखोगे तो दुःख पाना पड़ेगा।

विचार करो, जिससे आप सुख चाहते हैं, क्या वह सर्वथा सुखी है? क्या वह दुःखी नहीं है? दुःखी व्यक्ति आपको सुखी कैसे बना देगा?

पुत्र और शिष्यको अपनेसे श्रेष्ठ बनानेका विधान तो है, पर अपना गुलाम बनानेका विधान नहीं है।

सेवाके लिये वस्तुकी कामना करना गलती है। जो वस्तु मिली हुई है, उसीसे सेवा करनेका अधिकार है।

किसी भी अवस्थामें राजी होना भोग है। भोगसे व्यक्तित्व नहीं मिटता। अतः साधकको किसी भी अवस्थामें राजी नहीं होना चाहिये।

भगवान् हठसे नहीं मिलते, प्रत्युत सच्ची लगनसे मिलते हैं।

भोगी व्यक्ति रोगी होता है, दुःखी होता है और दुर्गतिमें जाता है।

कामना छूटनेसे जो सुख होता है, वह सुख कामनाकी पूर्तिसे कभी नहीं होता।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

स्वप्नमें मन्त्र-जपका आदेश और कार्यकी सिद्धि

मैं लगभग सन् १९६०से ही श्रावणमासमें प्रायः रुद्राभिषेक करता चला आ रहा हूँ। मेरी एकमात्र पुत्री साधना उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुकी थी और मैं उसके विवाहके लिये चिन्तित था। मुझे लगा कि इतनी उच्च शिक्षा-प्राप्त कन्याके विवाहमें अधिक कष्ट नहीं होगा, किंतु बात उलटी ही हुई। उसके योग्य शिक्षित वरका प्राप्त होना और फिर हमारे कुलोचित-संस्कारके अनुरूप परिवारका प्राप्त होना तथा तदनुकूल सभी प्रकारके व्ययके लिये द्रव्यकी व्यवस्था करना—इन सभीने मिलकर मुझे कठिन चिन्तामें डाल दिया।

मैं इसी चिन्तामें रात-दिन डूब रहा था कि एक दिन ब्राह्ममुहूर्तमें मुझे एक स्वप्न हुआ—मेरे एक शुभचिन्तक मित्र, जो गौर वर्ण, श्वेत-परिधान और कंधेपर यज्ञोपवीत धारण किये हैं, मुझसे कह रहे हैं—'रमाकान्त ! दो लाख शिवमन्त्रका जप करो।' बस, स्वप्न टूट गया और मैं जाग गया। मुझे तत्काल श्रीरामचरितमानसका यह दोहा स्मरण हो आया—***'सुंदर गौर सुबिप्रबर अस उपदेसेउ मोहि ॥'***

इसके बाद स्नान कर अपने कतिपय हितैषियोंको स्वप्न बताकर मन्त्र पूछा। सबने भिन्न-भिन्न मन्त्र बतलाये। मेरे सामने समयका अभाव था, क्योंकि वकालतका व्यवसाय, कन्याके अनुरूप वर ढूँढ़नेके लिये दौड़-धूप तथा श्रीमद्भागवतके कथावाचन आदिमें मुझे निरन्तर व्यस्त रहना पड़ता था। इस प्रकार व्यस्त होनेपर भी किसी प्रकार मैंने भगवान् शिवको प्रणाम कर **'ॐ नमः शिवाय'** मन्त्रका चलते-फिरते जप करना प्रारम्भ कर दिया, संख्या भर स्मरण रखता गया।

आश्चर्यकी बात हुई, ज्यों ही एक लाख जप पूरा हुआ, उस समय मैं अपने निवास-स्थलसे २५ किलोमीटर दूर एक ग्राममें विश्राम कर रहा था। उसी समय एक मेरे परिजन वहाँ पहुँचे और उन्होंने मुझे सूचना दी कि एक सुयोग्य इंजीनियर वरके परिवारवालोंने साधनाको देखकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की है और मुझे उन दोनोंके विवाह-सम्बन्धके लिये आपके पास भेजा है। वे लोग कल ही आपसे प्रत्यक्ष मिलकर इस सम्बन्धमें सारी बातोंको निश्चित करनेके लिये तैयार हैं। इसपर मेरे आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, मैं उस वरके साथ साधनाके विवाहकी कल्पना भी नहीं कर पा रहा था, प्रस्ताव रखनेका तो साहस ही कहाँसे होता ? क्योंकि उसके लिये बड़े-बड़े सांसद एवं सम्पन्न प्रतिष्ठित महानुभाव दौड़-धूप कर रहे थे, इसे मैंने भगवान् शिवकी कृपा और मन्त्रकी महिमा मानकर शीघ्र प्रस्ताव किया और वह स्वीकृत हुआ। मन्त्र-जप चलता रहा। कुछ ही दिनोंमें विवाह सानन्द सम्पन्न हुआ, उस बीच न मालूम कैसे-कैसे अप्रत्याशित स्रोतोंसे द्रव्यराशि भी प्राप्त हुई। मुझे यही लगा कि भगवान् शङ्करने ही अपने मित्र धनाध्यक्ष कुबेरको मेरी सहायताके लिये आदेश प्रदान किया है। इस समय वर-वधू सुखी हैं, परिवारमें साधना पुत्रीके समान स्नेह पा रही है। यह सब भगवान् आशुतोषकी महती अनुकम्पा है।

'सिव समान दाता नहीं बिपति-निवारन-हार।'

—रमाकान्त मिश्र, शास्त्री

(२)

पशुपतिनाथकी कृपा

भारतमें मध्यप्रदेश-राज्यके मन्दसौर नगरके बाहर शिवना नदीके तटपर एक विशाल मन्दिर है, जिसमें आठ फुट लम्बी तथा तीन फुट चौड़ी पशुपतिनाथ महादेवकी एक मूर्ति है, उसमें आठ मुख हैं। यह प्राचीन मूर्ति शिवना नदीसे ही प्राप्त हुई थी। इसपर धोबी कपड़े धोता था। महादेवजीने धोबीको स्वप्नमें अपने परिचयका आभास कराया। फिर उन्हें नदीमेंसे निकालकर उनके लिये मन्दिर बनवाया गया और उसीमें विधि-विधानपूर्वक उनकी स्थापना की गयी।

बात १३ जुलाई सन् १९८७ की है। मंदसौर जिलेमें सर्वत्र पानीके लिये त्राहि-त्राहि मची हुई थी। एक-दो बार पानी बरसा था, लेकिन नाममात्रका ही। किसानोंने किसी प्रकार बुआई कर ली, परंतु इसके बाद २०-२५ दिन पानी बरसा ही नहीं। किसानलोग पानीकी आशामें आसमानकी ओर टकटकी लगाये देखते रह गये। बीजके प्रायः पूर्णतया नष्ट होनेकी स्थिति आ गयी। लोग नहाने-धोनेका काम हैंडपम्पसे कर रहे

थे। समयका कोई ध्यान नहीं, जब अवसर मिलता, रात हो या दिन, पानी भर लेते। हैंडपम्प निरन्तर चालू रहता। छोटे और बड़े सभी पानीके लिये भाग-दौड़ करते रहते। कुछ लोग कुएँसे पानी भर लेते।

शिवना नदीका पानी पूरी तरह सूख गया था। मंदसौर शहरके बाहर बाँध बनाया गया था, वहीं कुछ दूरीपर थोड़ा पानी दीख रहा था, वह भी कुछ ही दिनके लिये था। १३ जुलाईको नगरपालिकाद्वारा सूचना दी गयी कि तीन दिनके लिये ही पानी नदीमें बच पाया है, उसके समाप्त होनेके पश्चात् जो एक समय थोड़ा पानी मिल रहा है, वह भी बंद हो जायगा।

ऐसी स्थितिमें भक्तजनोंने भगवान् पशुपतिनाथकी आराधना करनेकी बात सोची। १३ जुलाईको पिपलिया तथा मंदसौरके कुछ भक्तगण कंधेपर काँवरमें ताँबेके लोटोंमें जल भरकर उसे हारसे सजाकर पशुपतिनाथकी पूजाके लिये पैदल यात्रापर निकल पड़े, भक्तोंकी शोभायात्रा प्रमुख मार्गोंसे निकली। वे **'ॐ नमः शिवाय'**—इस पञ्चाक्षर मन्त्रका जप करते हुए पशुपतिनाथ पहुँचे और बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे पशुपतिनाथ महादेवपर जल चढ़ाया तथा वहाँ मन्दिरमें बैठकर **'ॐ नमः शिवाय'** का जप भी करने लगे। इसी बीच पशुपतिनाथकी कृपासे आकाशमें मेघ उमड़ आये और पर्याप्त समयतक सुवृष्टि होती रही। यह भगवान् पशुपतिनाथकी ही अनुकम्पा थी। किसानों और नगर-निवासियोंमें हर्षकी लहर दौड़ गयी और वे सभी भगवान् पशुपतिनाथका गुणगान करने लगे। सच्चे हृदयसे की गयी भगवदाराधना कभी निष्फल नहीं होती, प्रत्युत अवश्यमेव सफल होती है। भगवान् आशुतोषके विषयमें यह प्रसिद्ध ही है—

इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहहिं न कोटि जोग जप साधे॥
बरदायक प्रनतारति भंजन। कृपासिंधु सेवक मनरंजन॥

—प्रेमकुमार कटारिया

(३)

वृद्धाकी आश्चर्यजनक ईमानदारी

अभी कुछ ही दिन पहलेकी बात है, मुझे दिल्लीसे कोटा आना था। अतः मैं ठीक ९ बजे सायं नयी दिल्ली रेलवे स्टेशन पहुँचा। आरक्षण-चार्ट देखकर अपनी बोगीमें घुसा। वह टू-टीयर कम्पार्टमेंट था। मेरी शायिका ऊपरकी थी। अतः अपनी शायिकापर बिस्तर तथा सामान रखनेके बाद, जैसे ही मैं अपनी शायिकापर चढ़ा, मेरी दृष्टि अपने नीचेवाली शायिकापर पड़ी, जहाँ एक कृशकाय वृद्धा तीन वर्षके बालकको गोदमें लिये बैठी थी। मैले और फटे कपड़ोंमें वह किसी भिखारिनसे कम नहीं लग रही थी। मुझे आश्चर्य हुआ कि एक टू-टीयर कम्पार्टमेंटमें यह भिखारिन कैसे यात्रा कर रही है? इसे तो जनरल कम्पार्टमेंटमें यात्रा करनी चाहिये थी। मुझे उसे देखकर घृणा तो हो रही थी फिर भी उस भिखारिन बुढ़ियाके सांनिध्यमें यात्रा करनी पड़ी। मैंने ऐंठते हुए उस बुढ़ियासे कहा—'ऐ बुढ़िया! यह टू-टीयरका डिब्बा है। इसमें यात्रा करनेके लिये आरक्षण कराना होता है।' उस समय वह अपने बालकको खाना खिला रही थी। मैंने क्या कहा, मानो उसने सुना ही नहीं। खाना खिलानेके बाद उसने बालकको सुलाया और तब मेरी ओर मुख करके धीरेसे बोली—'हाँ बाबूजी मालूम है। इसमें यात्रा करनेके लिये आरक्षण कराना होता है।' उसने आरक्षण शब्दका इतना अच्छा उच्चारण किया कि एक बार तो मैं आश्चर्यमें पड़ गया कि क्या वह वास्तवमें अपढ़ बुढ़िया है? खैर, बात आयी-गयी हो गयी। मैंने अपने सामानपर फिर एक दृष्टि डाली और अपने जूते भी उठाकर अपने बिस्तरके नीचे दबा लिये, कहीं बुढ़िया रातको इन्हें गायब न कर दे। फिर मुझे नींद आ गयी।

प्रातः मेरी आँख पाँच बजे ही खुल गयी। गाड़ी ठीक सात बजे कोटा स्टेशन पहुँचती थी। अतः मेरी इच्छा हुई कि चाय पीकर और दैनिक कार्यों—शौचादिसे निवृत्त होकर बिस्तर आदि बाँध लिया जाय। तभी मेरा हाथ अपने पैन्टकी जेबपर गया तो मैंने देखा, पर्स गायब था। मैं झटसे उछलकर नीचे आकर खड़ा हो गया और बिस्तरपर तथा चारों ओर पर्स देखने लगा, यह सोचकर कि कहीं पर्स रातको सोते समय जेबसे निकलकर बिस्तरपर गिर गया हो। पर पर्स कहीं नहीं मिला। मैं एक प्रकारसे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। पूस मासके कटकटाती ठंडमें भी मेरे माथेपर पसीनेकी बूँदें आ गयीं। तभी चायवाला आया, बोला—'बाबूजी गरमागरम चाय पीजिये। सब ठंड गायब हो जायगी।' पर मुझे तो उस समय सिवाय पर्सके कुछ नहीं सूझ रहा था। चायवालेपर ध्यान न देकर मैं

नीचेकी बर्थके नीचे गर्दन डालकर पर्स खोजने लगा। तभी किसीने प्यारसे मेरा कंधा स्पर्श किया। मैंने गर्दन घुमाकर देखा तो वही बुढ़िया थी। बुढ़िया बड़े प्यारसे बोली—'आओ मेरे पास बैठो और चाय पियो। मालूम होता है किसी कष्टमें हो ? ईश्वरपर विश्वास रखो। सब ठीक होगा।' मैं बुढ़ियाके पास न जाने कैसे बैठ गया। उसकी आवाजमें एक दिव्य आकर्षण तथा अपनापन था। न जाने क्यों मुझे ऐसा लगने लगा कि जैसे मुझे कोई परेशानी ही न हो। मैंने बुढ़ियाको बड़े आदरसे सम्बोधित करते हुए कहा—'माँ ! मेरा पर्स खो गया है····मेरी बात पूरी भी न हो पायी थी कि बुढ़ियाने अपनी पोटलीसे पर्स निकालते हुए दिखाया और पूछा—'यह तो नहीं है तुम्हारा पर्स।' पर्स देखते ही मेरी सारी चिन्ता समाप्त हो गयी। इतनी खुशी हुई कि कुछ कहते नहीं बन रहा था। थोड़ी देर बाद पर्स लेते हुए मैंने बुढ़ियासे कहा—'माँ ! मालूम है इसमें कितने रुपये हैं ?'

'मैंने देखे नहीं' बुढ़ियाने बड़े विरक्त-भावसे कहा। 'ठीक पाँच हजारके नये नोट हैं।' इनाममें आप जो चाहें सो ले लें।' मैंने पर्स खोलते हुए कहा।

नहीं बेटा ! मुझे रुपया नहीं चाहिये। रुपया तो मेरे पास बहुत है। देखो न यह बालक मेरा पोता है। इसके माँ-बाप एक भीषण सड़क-दुर्घटनामें चल बसे। भगवान्‌की कृपासे यह बालक बच गया। अब तो यही मेरा खजाना है। जानते हो इसका बाप रेलवे स्टेशन-मास्टर था। मेरी इच्छा है कि 'यह और भी बड़ा रेलवेका अफसर बने' बुढ़िया यह कहते-कहते भावुक हो गयी। शायद बेटेकी याद ताजी हो गयी थी। मैंने देखा उसकी आँखोंमें आँसू भर आये थे। मैंने उसके आँसू पोंछ दिये, पर मैं अपने आँसू न रोक सका। तभी मेरा स्टेशन आ गया और मैं उस बुढ़िया माँको करबद्ध नतमस्तक प्रणाम कर गाड़ीसे उतर गया। धन्य है उसकी निःस्पृहता और ईमानदारी।

—श्रीनरेन्द्रजी वार्ष्णेय

मनन करने योग्य

[निर्मल मन जन सो मोहि पावा]

एक कथावाचक पण्डितजी नदीके किनारे प्रतिदिन धार्मिक प्रवचन किया करते थे। पण्डितजी बड़े विद्वान् और प्रायः सभी शास्त्रोंके ज्ञाता थे। अच्छे कथावाचक और प्रवचनकर्ता तो वे थे ही, उनके प्रवचनोंकी कीर्ति दूर-दूरतकके गाँवोंमें फैल चुकी थी। उनका प्रवचन सुननेके लिये आस-पासके स्थानोंसे अनेक श्रद्धालु भक्त कथामें प्रतिदिन एकत्र होते थे।

वहीं नदी-पारके गाँवसे दो अपढ़ ग्वालिनें भी उनकी कथा सुनने आया करती थीं। वे दोनों निर्मल-चित्त, सरल-हृदय और भोली-भाली थीं। छल-छिद्रसे कोसों दूर—निष्कपट। शास्त्रोंके प्रति उनके मनमें अगाध श्रद्धा थी एवं अटूट विश्वास था। इस विश्वासने उन्हें निर्भय बना दिया था। वे ग्वालिनें अपने गाँवसे प्रतिदिन नावके द्वारा नदी पार करके इस ओर आया-जाया करती थीं। नावपर बैठनेका किराया उन्हें प्रतिदिन केवटको देना पड़ता था।

एक दिन कथामें उन्होंने पण्डितजीके मुखसे सुना कि 'नारायणका नाम लेनेसे भवसागरसे पार हो जाते हैं।' ग्वालिनें भोली-भाली तो थीं ही। वे भला इसका गूढ़ अर्थ क्या समझतीं ? उन्होंने तो पण्डितजीके कथनोंका सीधा-सादा अर्थ ग्रहण कर लिया और उन वचनोंपर पूर्ण विश्वास कर आचरण करनेका निश्चय कर लिया। भोली-भाली ग्वालिनोंके मनपर इसका सही प्रभाव पड़ा। कथाके बाद घर लौटते समय उन दोनोंने विचार किया कि जब 'नारायणका नाम लेनेसे ही भवसागर पार हो जाते हैं, तो नावपर हम क्यों बैठें !' उन्होंने तत्काल पैदल चल पड़नेका निश्चय किया। नारायणका नाम लिया, एकने दूसरेका हाथ पकड़ा और नदीमें उतर पड़ीं तथा नारायणका नाम लेते-लेते खुशी-खुशी, धीरे-धीरे उस पार पहुँच गयीं। उस समय नदीमें उन्हें स्वल्प जल ही प्रतीत हुआ। उनकी खुशीकी सीमा नहीं थी। इस प्रकार वे प्रतिदिन कथा-श्रवण करतीं और कथाकी समाप्तिपर पैदल चलकर केवल नारायणका नाम लेकर नदी पार कर लेतीं। उनकी केवटको दी जानेवाली नदीकी उतराई प्रतिदिन बचने लगी। उसे वे प्रतिदिन अलगसे बचाने लगीं। जब यह राशि कुछ अच्छी इकट्ठी हो गयी, तब उन भोली-भाली दोनों ग्वालिनोंने

आपसमें निश्चय किया कि एक दिन पण्डितजीको अपने घरपर निमन्त्रित किया जाय।

उन्होंने एक दिन पण्डितजीसे अपने गाँव पधारने तथा अपनी झोंपड़ीको उनके चरणोंसे पवित्र करनेका निवेदन किया। पण्डितजीने उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। कथा समाप्त हुई और पण्डितजी उनके गाँवको चलनेके लिये नदीके किनारे आ पहुँचे तथा नावको लानेके लिये कहने लगे। दोनों ग्वालिनें जो पास ही खड़ी थीं, बड़े आश्चर्यमें पड़ गयीं। उन्हें समझमें नहीं आ रहा था कि पण्डितजी नाव लानेके लिये क्यों कह रहे हैं? जबकि वे कथामें स्वयं कहा करते हैं कि 'नारायण'का नाम लेनेसे ही पार हो जाते हैं। ग्वालिनोंने पण्डितजीसे उत्सुकताभरे स्वरमें पूछा कि वे नाव लानेका आग्रह क्यों कर रहे हैं? तो पण्डितजीने कहा कि नदीमें पानी है और बिना नावके नदी पार करनेमें डूबनेका भय है। पण्डितजी बिना नावके नदी पार करनेमें भयभीत थे, जबकि दोनों ग्वालिनोंके मनमें नारायणके नामकी शक्तिके प्रति सुदृढ़ आस्था थी। वे दोनों पैदल ही नदी पार जानेके लिये अत्यन्त उत्सुक थीं। अतः उन दोनोंने पण्डितजीके हाथ पकड़ लिये तथा 'नारायण-नारायण' कहते हुए वे नदीमें उतर पड़ीं और भगवान्‌का नाम स्मरण करते हुए धीर-धीरे दूसरे पार जा पहुँचीं।

पण्डितजीके मनमें नदीके बीचमें तो बड़ी व्याकुलता हो रही थी, किंतु जब वे नदीके उस पार सकुशल पहुँच गये और दोनों ग्वालिनोंको जब बिलकुल सहजरूपसे प्रसन्न-मुद्रामें देखा तो उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। उन्हें कुछ समझमें नहीं आ रहा था। ग्वालिनें उन्हें अपनी कुटियामें ले गयीं, उनका यथोचित आदर-सत्कार किया, श्रद्धापूर्वक भोजन कराया और अन्तमें नदी-उतराईकी बची सारी राशि उन्हें अर्पित कर दी, जो उन्होंने पण्डितजीकी कथा सुननेके बाद पैदल नदी पार करके बचायी थीं। जब पण्डितजीने इसका रहस्य जानना चाहा तो उन्होंने सारा वृत्तान्त पण्डितजीको कह सुनाया। उस समय पण्डितजी अवाक् थे।

पण्डितजीको तब लगा कि नारायणके नामका मर्म तो उन भोली-भाली ग्वालिनोंने ही समझा है, वे तो केवल प्रवचन ही करते रहे। गहरी नदी तो उन ग्वालिनोंने ही पार की है, उन्होंने तो बस नावकी ही प्रतीक्षा की।

ऐसी बातोंमें तर्कप्रवण व्यक्तियोंको आश्चर्य एवं अविश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि भगवन्नाममें साक्षात् भगवान्‌के तुल्य ही शक्ति होती है। भगवान् कृष्णको जब कारागारसे लेकर वसुदेवजी वर्षा-ऋतुमें नन्दजीके घरपर रखनेके लिये जा रहे थे तो अगाध जलवाली यमुना भी अत्यन्त अल्प जलवाली सुगमतासे पार करने योग्य हो गयी थीं—

मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा
गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ।
भयानकावर्तशताकुला नदी
मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ५०)

—उन दिनों बार-बार वर्षा होती रहती थी, इससे यमुनाजी बहुत बढ़ गयी थीं। उनका प्रवाह गहरा और तेज हो गया था। तरल तरङ्गोंके कारण जलपर फेन-ही-फेन हो रहा था। सैकड़ों भयानक भँवर पड़ रहे थे। जैसे सीतापति भगवान् श्रीरामजीको समुद्रने मार्ग दे दिया था, वैसे ही यमुनाजीने भगवान्‌को मार्ग दे दिया।

आचार्य कुलशेखरने भी अपने मुकुन्दमाला-स्तोत्रमें बड़े रम्य शब्दोंमें भगवद्भक्ति एवं उनके नाम-माहात्म्यके इस प्रकारके प्रभावको व्यक्त करते हुए कहा है—

भवजलधिमगाधं दुस्तरं निस्तरेयं
कथमहमिति चेतो मा स्म गाः कातरत्वम्।
सरसिजदृशि देवे तावकी भक्तिरेका
नरकभिदि निषण्णा तारयिष्यत्यवश्यम्॥

(मुकुन्दमाला १७)

इसका भाव यह है कि हे चित्त! अगाध भवसागरको तुम कैसे पार करोगे? इस चिन्तामें कातर मत बनो। नरकभेत्ता कमलनयन भगवान् विष्णुके चरणोंमें की गयी तुम्हारी थोड़ी भी भक्ति इस समुद्रको बड़ी सुगमतापूर्वक अवश्य ही पार करा देगी। —डॉ॰ श्रीरामकृष्णजी सर्राफ

रत्न-पिटारी

कलिकाल बड़ा भीषण है, इसमें केवल भगवान्‌के नामका ही सहारा है। मन श्वेत वस्त्र है, इसे जिस रंगमें डुबाओगे वही चढ़ जायगा। विश्वास रखो, भगवान् दयालु हैं। उन्हें पुकारो, वे अवश्य सुनेंगे। भगवान्‌के लिये वैसे ही रोओ, जैसे बालक माताके लिये रोता है। संसारमें ईश्वर ही केवल सत्य है और सभी असत्य हैं।

जो ईश्वरका चरणकमल प्राप्त कर लेता है, वह संसारसे नहीं डरता। भक्तका हृदय भगवान्‌की बैठक है।

सर्वदा सत्य बोलना चाहिये। सत्य ही कलिकालकी तपस्या है। तुम जहाँ हो वहींसे प्रभुको पुकारो।

जिसका जैसा भाव होता है, उसको वैसा ही फल मिलता है। तुम संसारके सब काम करो, परंतु मनको प्रतिपल ईश्वरकी ओर रखो। साधु-संग करनेसे जीवका नशा उतर जाता है।

व्याकुल होकर भगवान्‌के लिये रोनेसे ही भगवान् मिलते हैं।

पर-निन्दा और पर-चर्चा कभी न करो।

विश्वास तारता है और अहङ्कार डुबाता है।

मुँहमें राम बगलमें छुरी मत रखो।

प्रेमसे हरि-नाम गाओ, इससे तरोगे, तरोगे, संसारसे तर जाओगे।

कलियुगमें भगवान्‌के नामसे बढ़कर कुछ भी नहीं है।

भगवान् सर्वत्र हैं, परंतु जो भक्त नहीं हैं, उन्हें दिखलायी नहीं देते। उठो! श्रीकृष्णके चरणोंका वन्दन करो।

अपनी स्त्रीके सिवा अन्य स्त्रीसे कोई सम्बन्ध न रखो।

अभिमानको छोड़कर भगवान्‌की शरण लो।

भगवान्‌का नाम लेनेसे पाप भस्म हो जाते हैं।

संतोंके चरणोंको वन्दन करनेसे काम-क्रोध नष्ट हो जाते हैं।

यह सब नाशवान् है। गोपालका स्मरण करो, वही हित है।

संसारके सब भाई-बन्धु स्वार्थके साथी हैं। अपना सच्चा साथी तो भगवान् ही है।

भगवान्‌का भजन ही जीवनका सुफल है।

'राम-कृष्ण-हरि' कहते चलो। वैकुण्ठका यही रास्ता है।

भावसे ही भगवान् मिलते हैं।

छोटे-बड़े सबके भीतर नारायणका निवास है।

और कहीं मत देखो, श्रीहरिके चरण पकड़े रहो, उनके नामका आश्रय लिये रहो।

इस युगमें श्रीराम-नाम ही सब कुछ है।

पराया धन और परायी स्त्रीकी ओर जहाँ दृष्टि गयी कि तुम नष्ट-भ्रष्ट हो जाओगे।

पर-स्त्रीसे कभी बात न करो, उससे कभी भी आँख न मिलाओ।

सदाचारसे रहो और भगवान्‌का भजन करो।

पर-नारीको माताके समान समझो। परायेका धन विष समझो।

भगवान्‌को चाहते हो तो भगवान्‌को भजो।

सारा प्रपञ्च छोड़कर श्रीहरिको ढूँढ़नेमें लगो।

उस बड़प्पनमें आग लगे जिसमें भगवद्भक्ति नहीं।

शरीर न बुरा है न अच्छा, इसे जल्दी हरि-भजनमें लगाओ।

स्त्रीके अधीन जिसका जीवन होता है, उस अधमको देखनेसे भी असगुन होता है।

उठते-बैठते भगवान्‌को पुकारो।

कोई कैसा भी हो, यदि हरि-नाम लेनेवाला है तो वह धन्य है, उसकी माता धन्य है।

नर-जन्मकी सार्थकता भगवान्‌के मिलनेमें ही है।

जिसका मन पवित्र नहीं, उसका कोई काम पवित्र नहीं होता।

मृत्यु आकर तुम्हें जगाये, इसके पहले ही तुम जाग जाओ।

जो पासमें धन रहनेपर भी अपने भाइयोंकी दीन-अवस्थापर तरस नहीं खाता और उनकी सहायता नहीं करता, उसके हृदयमें प्रभुका प्रेम कैसे धँस सकता है?—महात्मा ईसा

श्रीगीता-जयन्ती

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

(गीता ६ । ३०-३१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।'

आजके इस अत्यन्त संकीर्ण स्वार्थपूर्ण जगत्में दूसरेके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझनेकी शिक्षा देनेके साथ कर्तव्य-कर्मपर आरूढ़ करानेवाला और कहीं भी आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्सेवाके लिये ही यज्ञमय जीवन-यापन करनेकी सत्-शिक्षा देनेवाला सार्वभौम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता ही है। इसका विश्वमें जितना वास्तविक रूपमें अधिक प्रचार होगा, उतना ही वह सच्चे सुख-शान्तिकी ओर आगे बढ़ सकेगा।

इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला ११ बुधवार, दिनाङ्क २८ नवम्बर १९९०ई० को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीता-प्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये। आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है। इस पर्वके उपलक्ष्यमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य होने चाहिये—

(१) *गीता-ग्रन्थ-पूजन।*

(२) *गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन।*

(३) *गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण।*

(४) *गीतातत्त्वको समझने-समझानेके हेतु गीता-प्रचारार्थ एवं समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्य-परायण बनानेकी महती शिक्षाके लिये इस परम पुण्य दिवसका स्मृतिमहोत्सव मनाना तथा उसके संदर्भमें सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन एवं भगवन्नाम-संकीर्तन आदि करना-कराना।*

(५) *महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण आदि।*

(६) *प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीता-कथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्का विशेषरूपसे पूजन और आरती करना।*

(७) *जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा (जुलूस) निकालना।*

(८) *सम्मान्य लेखक और कवि महोदयोंद्वारा गीता-सम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करने और करानेका संकल्प लेना, तदर्थ प्रेरणा देना और—*

(९) *देश, काल, पात्र (परिस्थिति) के अनुसार गीता-सम्बन्धी अन्य कार्यक्रम अनुष्ठित होना चाहिये।*

—सम्पादक
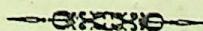
'कल्याण' के चालू वर्ष (सौर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, वि० संवत् २०४७) का विशेषाङ्क
'देवताङ्क'

(इच्छुक सज्जन ग्राहक बनें एवं इष्ट-मित्रोंको भी बनायें)

'कल्याण'के ६४वें वर्ष (वि० सं० २०४७)के विशेषाङ्क—'देवताङ्क'की अब कुछ सीमित प्रतियाँ ही शेष रह गयी हैं। अतः इच्छुक सज्जनोंको चाहिये कि वे अविलम्ब वार्षिक शुल्क ४४.०० (चौवालीस रुपये) मनीआर्डर अथवा बैंक-ड्राफ्टद्वारा भेजकर इसे शीघ्र प्राप्त कर लें अन्यथा 'कल्याण'के पिछले विशेषाङ्कोंकी तरह इन शेष प्रतियोंके शीघ्र समाप्त हो जानेपर उन्हें निराश होना पड़ सकता है।

इस विशेषाङ्कमें देव-संस्कृति और देवता-विषयक महत्त्वपूर्ण तात्त्विक सामग्रीका प्रचुर मात्रामें समायोजन किया गया है। मुख्य रूपसे देवताओंके उद्भव, तात्त्विक स्वरूप, देवतत्त्व-मीमांसा, पञ्चदेवोपासना, त्रिदेव एवं त्रिशक्ति-रहस्यके साथ ही देवता-सम्बन्धी दार्शनिक एवं पौराणिक अवधारणाएँ एवं देवताओंके विभिन्न स्वरूप-विग्रहोंके दर्शन आदिका इसमें विशद वर्णन है। इसके अतिरिक्त आत्मकल्याणका मुख्य साधन—देवोपासना तथा देवोपासनाका परम उद्देश्य—भगवत्प्राप्ति-जैसे ज्ञानवर्धक, गम्भीर और परमोपयोगी विषयोंका भी इसमें विवेचन किया गया है। देवचरित्र-सम्बन्धी अनेक रोचक कथाओं एवं वैदिक तथा पौराणिक सरस आख्यानोंको भी इसमें प्रस्तुत किया गया है।

पृष्ठ-संख्या ४०८, बहुरंगे चित्र ९, सादे चित्र ९२, रेखाचित्र ६, सुन्दर आकर्षक बहुरंगे आवरणसे युक्त यह अङ्क अपनी उपादेयता एवं गुणवत्ताके कारण सर्वथा संग्रहणीय तथा नित्य पठनीय है। इसकी लोकप्रियता और माँग इसीसे स्वयं सिद्ध होती है कि इसके कुल १,९०,००० प्रतियोंके संस्करणमेंसे अब कुछ प्रतियाँ ही शेष बची हैं।

अतएव इस विशेषाङ्कके इच्छुक जो सज्जन अबतक ग्राहक न बने हों वे कृपया अब शीघ्र ही स्वयं ग्राहक बनें एवं अपने इष्ट-मित्र, प्रेमी जनोंको भी अविलम्ब ग्राहक बननेके लिये प्रेरित करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी उपयोगी पुस्तकें

आनन्दका स्वरूप—इस पुस्तकमें लेखकद्वारा समय-समयपर साधकोंके लिखे हुए ६५ पत्रोंका संग्रह है। इनमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंमें उत्पन्न शङ्काओंका निराकरण किया गया है। आकार २०"×३०" सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २६०, भगवान् श्रीकृष्णके सुन्दर चित्रमय इस पुस्तकका मूल्य २.५० (दो रुपये पचास पैसे), डाकखर्च अतिरिक्त।

भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति—इस पुस्तकमें लेखकके ५० महत्त्वपूर्ण लेखोंका संग्रह है। इसमें भगवत्प्राप्तिके सुगम साधनोंपर प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक अपने ढंगकी बहुत उपयोगी एवं संग्रहणीय है। आकार २०"×३०", सोलहपेजी, सुन्दर रंगीन आकर्षक कवरवाली पुस्तकका मूल्य ४.०० (चार रुपये), डाकखर्च अतिरिक्त।

_पद-रत्नाकर_—श्रद्धेय श्रीभाईजीद्वारा रचित पदोंका यह अनुपम संग्रह है। यह रचना उनके अन्तर्हृदयमें विराजित श्रीराधामाधवका चिद्विलास है। इसमें वन्दना एवं प्रार्थना, श्रीराधा-माधवकी स्वरूप-माधुरी, उनकी विभिन्न लीलाओंका विशद वर्णन, प्रेमतत्त्व, श्रीराधा-कृष्ण-जन्म-महोत्सवके पदोंके साथ ही श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्णके विभिन्न स्वरूपोंका गुणगान तथा व्यावहारिक समस्याओंके सरल समाधानके पदोंने संग्रहकी उपयोगिता और भी बढ़ा दी है। श्रीराधा-माधवके परस्पर संवाद तथा श्रीभाईजीकी स्वयं देखी हुई लीलाओंका भी वर्णन है, जिसका संकेत उन्होंने स्वयं पुस्तकके निवेदनमें किया है। कुल पद १५,५७५, पृ०-सं० १०२४, मूल्य १४.०० (चौदह रुपये), डाकखर्च अतिरिक्त।

लेखकके भगवच्चर्चा एवं लोक-परलोक-सुधारके सभी भाग उपलब्ध हैं। अन्य भी बहुत-सी पुस्तकें उपलब्ध हैं, सूची-पत्रमें देखी जा सकती हैं।

व्यवस्थापक— गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५